वर्ष ४२] * * * [अङ्क १२

विषय-सूची

कल्याण, सौर पौष २०२५, दिसम्बर १९६८

चित्र-सूची

वार्षिक मूल्य भारतमें ९.०० विदेशमें १३.३५ (१५ शिलिंग) } जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥ { साधारण प्रति भारतमें ५० पै० विदेशमें ८० पै० (१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

मधुर भावमय भोले बालगोपाल

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कल्याण
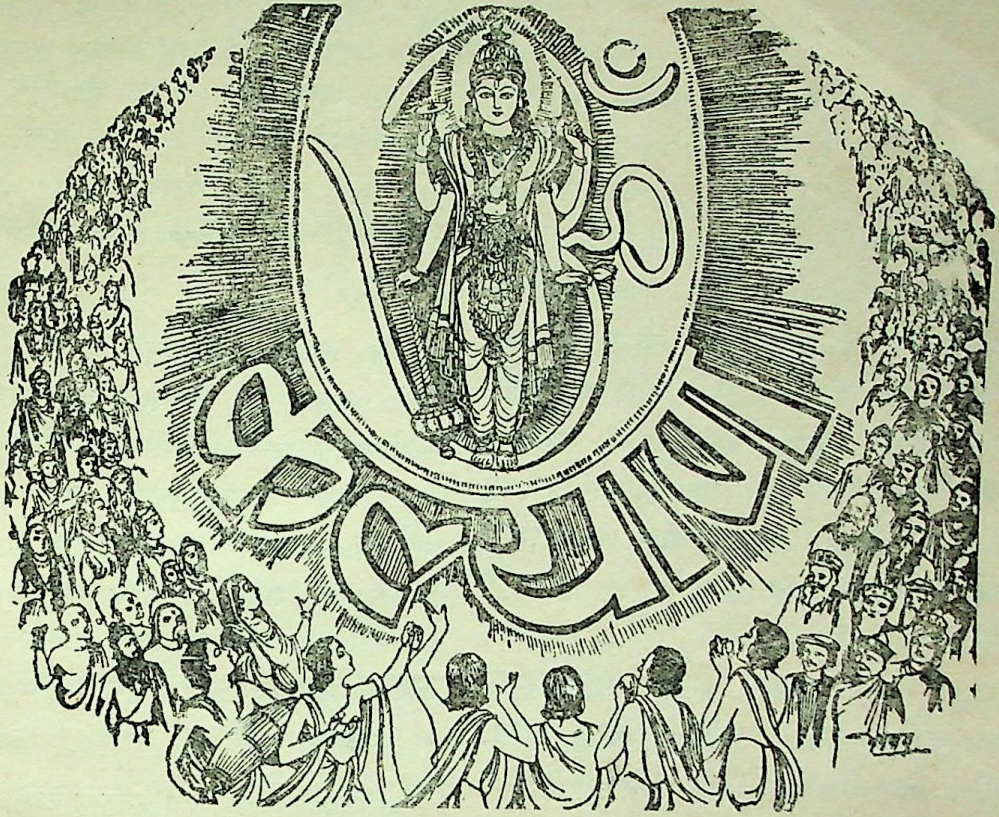
त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च ।
रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ॥

वर्ष ४२ } गोरखपुर, सौर पौष २०२५, दिसम्बर १९६८ { संख्या १२
पूर्ण संख्या ५०५

मधुर भावमय भोले बालगोपाल

सजल-जलद-नीलाभ-तन बदन सरोज रसाल ।
पीतबसन, सिखिपिच्छ सिर मुकुट, तिलक बर भाल ॥
पग नूपुर, कुंडल श्रवन, कंठ हार-बनमाल ।
हाथ लिये मुरली मधुर ललित त्रिभंगी लाल ॥
मुनि-मन-हर, जन-मन-सुखद, अपलक नैन बिसाल ।
ठाढ़े भोले भावमय मधुर बाल गोपाल ॥

कल्याण

याद रक्खो—भगवान्‌के मङ्गलविधानसे वही चीज तुमसे ली जा रही है, हटायी जा रही है, चाहे वह तुम्हें इस समय कितनी ही प्रिय आवश्यक प्रतीत होती हो, जिसका तुम्हारे पाससे चला जाना, हटाया जाना तुम्हारे भविष्यके कल्याणके लिये आवश्यक था और इसी प्रकार तुम्हें वही चीज दी जा रही है, चाहे वह तुम्हें अभी वाञ्छनीय न हो, सर्वथा अप्रिय हो, जिससे तुम्हारा भविष्यमें कल्याण होनेवाला है। तुम इस रहस्यको नहीं जानते। पर लेन-देन करनेवाले प्रभु सर्वज्ञ हैं; वे वही करते हैं—वही वस्तु या परिस्थिति लेते-देते हैं, जिससे तुम्हारा मङ्गल होता हो; क्योंकि वे तुम्हारे सहज ही परम सुहृद् हैं।

याद रक्खो—यहाँकी चीजोंके मिलने-जानेमें, परिस्थितिके परिवर्तनमें कोई भी हानि-लाभ नहीं है। यहाँ जो कुछ है—सब जानेवाला है—सब बदलनेवाला है। तुम मोहवश किसी वस्तु-परिस्थितिको अनुकूल मान लेते हो, किसीको प्रतिकूल समझ लेते हो। अनुकूलको पकड़े रखना, प्राप्त करना चाहते हो; प्रतिकूलका परित्याग करने तथा न मिलनेकी इच्छा करते हो; पर तुम्हारा यह मनोरथ तुम्हारे लिये लाभदायक है या हानिकारक—इसे तुम वैसे ही नहीं जानते, जैसे भविष्यका ज्ञान तथा वास्तविक वस्तुस्थिति न जाननेवाला छोटा अबोध शिशु लाभ-हानि नहीं जानता और अमुक वस्तुको प्रिय मानकर लेना चाहता है और अमुकको अप्रिय मानकर फेंक देना चाहता है, भले ही वह प्रिय वस्तु अहितकर हो और अप्रिय वस्तु हितकर हो। परंतु वस्तुगुण तथा बच्चेकी यथार्थ आवश्यकता एवं उसके लाभ-हानिका ज्ञान रखनेवाली माता उसकी प्रिय वस्तुको हटा देती है और अप्रियको दे देती है; क्योंकि वह ज्ञानवती तथा स्नेहमयी उसकी सुहृद् है।

याद रक्खो—प्रभु भी परम सुहृद्‌के नाते प्रत्येक विधानमें हमारे वास्तविक कल्याणका ध्यान रखते हैं। इससे उनके प्रत्येक विधानका परिणाम निश्चय ही हमारे लिये परम मङ्गलमय और कल्याणप्रद ही होता है।

याद रक्खो—तुम्हें प्रभुने जो कुछ दिया है, उसकी मङ्गलमयतापर विश्वास रखकर तुमको प्रभुके प्रीत्यर्थ अपने जिम्मेका काम भलीभाँति पूरा करनेका प्रयत्न करना चाहिये। तुम्हारा काम निर्दोष प्रयत्न करना है, फलकी चिन्ता नहीं करनी है। निर्दोष प्रयत्नका अर्थ यही है कि तुम्हारे किसी भी कामसे दूसरे किसीका अहित न हो, यह ध्यान रहे; कर्म-सम्पादनमें सावधानी रहे और प्रमादवश—असावधानी-वश कर्ममें भूल न हो।

याद रक्खो—यह लोक तुम्हारा नित्य निवासगृह नहीं है, यह तो यात्रा-पथ है। तुम एक यात्री हो और तुम्हें भगवान्‌के चरणोंमें या भगवान्‌के परमधाममें जाना है, जो तुम्हारा वास्तविक घर है। यहाँके सारे सम्बन्ध कल्पित हैं, आरोपित हैं। अतएव यहाँ न तो कहीं किसी प्राणी-पदार्थ-परिस्थितिमें ममता करो, न किसीमें राग करो, न किसीमें द्वेष करो। अपनी यात्राकी स्थितिको याद रखकर आगेकी तैयारी करो और लक्ष्यको न भूलकर निरन्तर उसी ओर चलते रहो। कहीं भी न अटको, न भटको। जो कुछ होता है, होने दो। एक बातका ध्यान रक्खो कि भगवान्‌की कभी विस्मृति न हो।

याद रक्खो—भगवान्‌की नित्य-निरन्तर स्मृति रखते हुए भगवान्‌की प्रीतिके लिये उनके मनोनुकूल कर्म करते रहना ही भगवान्‌की ओर चलना है। यहाँ

आने, रहने, काम करने, सम्बन्धादि जोड़ने तथा कर्म करने—सबका एकमात्र उद्देश्य है—यह मानव-शरीर ही तुम्हारी आखिरी यात्रा हो और इसका अन्त भगवान्‌की प्राप्तिमें ही हो।

'शिव'

ब्रह्मलीन परमपूज्य श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतमय उपदेश

[उनके बहुत पुराने पत्रोंसे]

(१)

सेवासे भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है, ऐसा विश्वास होनेपर साधकके द्वारा सेवा बन सकती है। सेवा करनेवाले पुरुषोंका संग करनेपर उनके सेवाभावको देखनेसे भी सेवामें उत्साह मिल सकता है। सेवाका महत्त्व समझनेपर ही सेवा बन पड़ती है। अतः सेवाका महत्त्व जाननेके लिये सेवापरायण पुरुषोंका संग करना उचित है। मनुष्य जैसा संग करता है, वैसा ही बन जाता है। तुम्हारी जैसा बननेकी इच्छा हो, वैसा ही संग करना चाहिये। अच्छे निष्कामी पुरुषोंके संगसे अच्छी बातें मिलती हैं, बर्ताव-व्यवहारमें सुधार होता है। निष्कामभावसे दूसरोंको सुख पहुँचानेकी तथा हित करनेकी चेष्टा होती है। ऐसा होनेपर व्यवहार अपने-आप ही आदर्श बन जाता है। × ×

(२)

आपका पत्र मिला। गीता अध्याय ९ तथा अध्याय १८ के अर्थका श्रवण, मनन करना चाहिये और आनन्दस्वरूप भगवान्‌के नामका जप तथा उनका गुणानुवाद सुननेका प्रयत्न एवं ध्यानका अभ्यास करना चाहिये। इससे चिन्ता मिटकर आनन्द-लाभ हो सकता है। भगवान्‌की कृपापर विश्वास करनेपर परम शान्ति मिल सकती है।

बीमारी मिटनेके लिये डाक्टरी (एलोपैथिक) दवा नहीं लेनी चाहिये। बीमारीका दूर होना असलमें प्रारब्धके अधीन है। दवा लेना कर्तव्य है, इसलिये दवा लेनी चाहिये। आराम होना होगा तो वैद्यकी आयुर्वेदिक दवासे ही हो जायगा। जो लोग अज्ञानवश डाक्टरी विदेशी दवाका सेवन करते हैं, वे प्रमाद ही करते हैं। अपवित्र वस्तुएँ शरीरके अंदर जाकर पवित्रता नष्ट करती हैं, मनको अशुद्ध करती हैं तथा मानसिक रोगोंको बढ़ाती हैं। विदेशी दवा-सेवनमें देशकी भी हानि है। अपना जीवन भी विदेशियोंके हाथमें दे देना है। जिससे हमारा जीवन अपवित्र होता हो—उस जीवनसे ही क्या लाभ। शरीर तो एक दिन नाश होनेवाला है ही, कोई भी निमित्त बन जायगा। फिर धर्म खोकर उसे नाश क्यों किया जाय ?

(३)

(१) दिन-रातमें जिसके १८ घंटे भजन होता है, उसकी स्थिति सुषुप्तिकालमें भी भगवान्‌में ही समझनी चाहिये।

(२) जिसके जाग्रत्-स्वप्न दोनोंमें ही भगवच्चिन्तन होता है। जगनेमें निरन्तर चिन्तन तथा स्वप्नमें भगवत्सम्बन्धी ही स्वप्न होते हैं, उसकी सुषुप्ति भी भगवान्‌की स्मृतिमें ही जाती है।

(३) जिसका सुषुप्तिकाल भी भगवान्‌में ही बीतता है, उसके जगनेपर ऐसी ही प्रतीति होगी कि मेरी स्थिति भगवान्‌में ही थी।

(४) शयन करते समय अन्तिम क्षणमें तथा जगते ही पहले ही क्षणमें जिसके भगवत्स्मरण होता रहता है। उसका सर्वकाल भगवान्‌की स्मृतिमें बीतता है, ऐसा उसे अनुभव होना चाहिये।

(५) उच्चस्तरके साधकको भगवान्‌की स्मृतिका वियोग नहीं हुआ करता है।

पूज्यपाद योगिराज श्रीदेवरहवा बाबाका उपदेश

[जैसा भोजन वैसा मन]

(प्रेषक—श्रीरामकृष्णप्रसादजी)

अपने देशमें जो प्रचलित खान-पानकी व्यवस्था है, उसपर सर्वसाधारणका कोई भी ध्यान नहीं है। भोजन कितना होना चाहिये और कौन-सा भोजन किसके लिये कितना अभीष्ट है, उसपर विवेचनके लिये सर्वसाधारणमें कोई भी कहीं प्रयास नहीं है। जनता इससे सर्वथा अनभिज्ञ है और सरकारद्वारा भी जो समय-समयपर प्रयास होता है, वह भी तामसिक भोजनकी वस्तुओंकी वृद्धिके लिये ही होता है—जैसे मत्स्य-पालन, मुर्गी-पालन इत्यादि। सात्त्विक भोजन क्या है, राजसी भोजन क्या है, तामसी भोजन क्या है, और इनका शरीरपर क्या प्रभाव होता है—इसकी जानकारी बहुत कम लोगोंको है।

डाक्टर या वैद्य वगैरह लोग, जिनको इसकी विशेष जानकारी है, वे केवल अपने रोगियोंको ही केवल रोगके निदानके क्रममें इन विषयोंपर अपनी राय देते हैं। यदि रोग होनेके पूर्व जनसाधारणको भोजनकी वस्तुओंका गुण और प्रभाव यथाक्रम बतानेका प्रयास होता या हुआ होता तो व्याधियोंकी वृद्धिमें बहुत ही ह्रास हो गया होता; लेकिन यहाँ तो दिन-प्रतिदिन व्याधियोंकी वृद्धि हो रही है। नयी-नयी व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं, जिनमें बहुतोंकी जानकारी भी, कितने डाक्टरोंतकको, नहीं है और न होती है।

लेकिन इन सब व्याधियोंका मूल कारण है—असंतुलित भोजन; जिसपर सदासे लोगोंकी उपेक्षाकी दृष्टि रही है। यदि तामसिक भोजनका सदाके लिये परित्याग कर दिया जाय और साथ ही अन्य भोजनकी वस्तुएँ भी संतुलित हों तो व्याधियाँ दूर होनेके अतिरिक्त मनुष्यका जीवन भी पूर्ण दीर्घायु हो सकता है।

इस संतुलित भोजन और भोजनकी वस्तुओंके चुनावका योगमें विवेचन किया गया है—जो इस प्रकार है—

सुस्निग्धमधुराहारश्चतुर्थांश विवर्जितः।
भुज्यते शिवसम्प्रीत्यै मिताहारः स उच्यते॥
पुष्टं समधुरं स्निग्धं गव्यं धातुप्रपोषणम्।
मनोऽभिलषितं योग्यं योगी भोजनमाचरेत्॥

यौगिक दृष्टिमें जा आहार है, जिसका अनुकरण सबको करना चाहिये—वह भोजन पौष्टिक, मधुर, स्निग्ध, गव्यधातु अर्थात् दूध आदि हो जिससे शरीरका उचित पोषण हो और उसमें भी वह मनोऽनुकूल हो—ऐसा योगियोंके लिये भोजनका आदेश है और वह भी पेटभर नहीं, बल्कि पेटका एक भाग खाली रहना चाहिये। मनोऽनुकूल इसलिये बतलाया गया कि भोजनसे मनका सीधा सम्बन्ध है। शुद्ध भोजनमें दो वस्तुएँ होती हैं—एक अन्न और दूसरा जल। खाये हुए अन्नमें जो स्थूल भाग होता है वह मल होकर हमारे शरीरसे बाहर निकल जाता है और जो मध्यम भाग होता है वह मांसमें चला जाता है और जो सूक्ष्म भाग होता है उससे मनका पोषण होता है और उसी प्रकार पीये हुए जलमें

जो स्थूल भाग है, वह शरीरसे मूत्र होकर बाहर निकल जाता है, मध्यम भागसे रक्त बनता है और सूक्ष्म भाग प्राणका पोषण करता है । इसलिये हमारे खाये हुए अन्न और जलसे मन और प्राणका सीधा सम्बन्ध है, जो यह प्रमाणित करता है कि जैसा भोजन होगा वैसा ही मन बनेगा । यदि मनको उत्तम बनाना हो और उसमें सात्त्विक विचार लाने हों तो उसके लिये सर्वप्रथम भोजनमें सुधार करना होगा । भोजन सात्त्विक, राजसिक और तामसिक जैसा होता है, उसीके फलस्वरूप विचार और मानसिक वृत्ति भी सात्त्विक, राजसिक और तामसिक होती है । हमारे शास्त्रोंमें भी कहा गया है कि 'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः' अर्थात् शुद्ध आहारसे विचार-बुद्धि शुद्ध होते हैं ।

अतएव जीवनमें सात्त्विकता लानेके लिये मनको पवित्र और उसमें सुविचार लानेके लिये यह आवश्यक है कि सभी शुद्ध भोजन करें और वह भोजनकी वस्तु भी शुद्धतासे अर्जित होनी चाहिये । मद्य, मांस, मछली या अन्य दूषित पदार्थका सभीको परित्याग करना चाहिये और भोजनकी वस्तुको भी आजकलके प्रचलित कतिपय बुरे व्यवसायोंसे प्राप्त नहीं करना चाहिये । सत्यधर्मयुक्त कमाईका अन्न होना चाहिये, तभी जीवनका स्तर ऊँचा उठेगा, मानसिक शान्ति मिलेगी और धर्म तथा भक्तिके मार्गमें मन अग्रसर होगा ।

करनेमें सावधान और होनेमें प्रसन्न

[एक महात्माका प्रसाद]

(यथाधीत यथागृहीत)

(प्रेषक—श्री'साधक')

प्राकृतिक नियमके अनुसार प्रत्येक व्यक्तिमें करनेकी रुचि विद्यमान है । उसे रुचिकी पूर्ति तथा निवृत्तिकी सामर्थ्य भी प्राप्त है । इस दृष्टिसे प्राप्तके सदुपयोगमें ही प्राणीका पुरुषार्थ निहित है; परंतु जब प्राणी असावधानीके कारण प्राप्तका सदुपयोग नहीं करता, तब न तो करनेकी रुचिका नाश ही होता है और न उत्कृष्टताकी ओर उसकी प्रगति ही होती है । करनेकी रुचिका नाश हुए बिना किसी-को भी विश्राम नहीं मिलता, जिसके बिना आवश्यक विकास नहीं होता ।

जो कर्ता अपने लक्ष्यको जाने बिना कर्ममें प्रवृत्त होता है, उसकी प्रवृत्ति सावधानीपूर्वक नहीं होती । दूरदर्शिताके बिना कोई भी अपने भविष्यको सुन्दर नहीं बना सकता । कर्ता, कर्म और फल देखनेमें भले ही अलग-अलग मालूम होते हों पर वास्तवमें प्रत्येक कर्म और फल कर्त्ताका ही रूपान्तर है । अतः जो कर्ता जैसा होता है, वैसा ही उसका कर्म होता है और जैसा कर्म होता है, वैसा उसका भविष्य होता है । सुन्दर कर्ताका कर्म और भविष्य सुन्दर होता है और असुन्दर कर्त्ताका कर्म और भविष्य असुन्दर होता है । कर्त्ता असुन्दर क्यों होता है ? जो कर्त्ता क्रियाजनित सुखमें ही अपनेको आबद्ध रखता है, वही असुन्दर हो जाता है । जडता और पराधीनतामें आबद्ध होनेपर कर्त्ताकी प्रवृत्ति निरुद्देश्य होने लगती है । कोई प्रवृत्ति ऐसी है ही नहीं, जो निवृत्तिमें विलीन न हो जाय । प्रत्येक परिस्थिति स्वरूपसे परिवर्तनशील, अपूर्ण तथा अभावपूर्ण ही है । अतः प्रवृत्तिमात्रमें ही जीवन नहीं है । इस दृष्टिसे प्रत्येक प्रवृत्तिका कोई उद्देश्य होना चाहिये, तभी प्रवृत्तिकी सार्थकता सिद्ध हो सकती है । लक्ष्य सदैव नित्य होता है और परिस्थिति चाहे जैसी क्यों न हो, उसमें सतत परिवर्तन होता रहता है । इस दृष्टिसे कोई भी परिस्थिति किसीका भी लक्ष्य नहीं हो सकती । परिस्थिति लक्ष्य न होनेपर भी प्रत्येक परिस्थिति साधनरूप अवश्य है । इस नाते सभी परिस्थितियाँ आदरणीय हैं ।

जो उद्देश्य नित्य है, उसका ज्ञान भी व्यक्तिमें स्वतः सिद्ध है । पर प्रवृत्तिमात्रको ही उद्देश्य मान लेनेसे उस

स्वतःसिद्ध ज्ञानकी विस्मृति हो जाती है। व्यक्ति जबतक अपने लक्ष्यको आप नहीं जानता है, तबतक वह उसके लिये अपना सर्वस्व निछावर नहीं कर सकता। जिसकी प्राप्ति नहीं हो सकती, वह लक्ष्य नहीं हो सकता। अतः प्रत्येक व्यक्तिको प्राप्त विवेकके प्रकाशमें अपने लक्ष्यको जानना अनिवार्य है।

ऐसा कौन व्यक्ति है जो यह नहीं जानता कि मुझे उत्कृष्टता, सामर्थ्य, स्वाधीनता, निस्संदेहता, जीवन और प्रेमकी आवश्यकता है। जिसका उद्देश्य उत्कृष्टताकी ओर गतिशील होना है, उसे स्वार्थको सेवामें बदलना होगा। सेवाके बिना किसीको भी आदर, कीर्ति, यशकी प्राप्ति नहीं हो सकती। ज्यों-ज्यों मनुष्य अपने उद्देश्यकी ओर अग्रसर होता जाता है, त्यों-त्यों उसका व्यक्तिगत स्वभाव गलता जाता है और ज्यों-ज्यों व्यक्तिगत स्वभाव गलता जाता है, त्यों-त्यों वह अनन्त नित्य चिन्मय जीवनसे अभिन्न होता जाता है। जिस कालमें व्यक्ति अपने सीमित स्वभावका अन्त कर देता है, उसी कालमें वह वास्तविक लक्ष्यसे अभिन्न हो जाता है। यह रहस्य जैसे-जैसे स्पष्ट होता है, त्यों-त्यों कामनाएँ स्वतः निवृत्त हो जाती हैं। जिस कालमें समस्त कामनाएँ मिट जाती हैं, उसी कालमें प्राणी वास्तविक उद्देश्य-के लिये आकुल-व्याकुल होने लगता है। व्याकुलताकी जागृति प्राणीके उस अहंभावको खा जाती है, जिसमें कामका निवास था। कामका अन्त होते ही व्याकुलता प्रीतिमें बदल जाती है। समस्त कामनाओंकी भूमि काम है।

जिस विधानसे सारी सृष्टि अपने-अपने कार्यमें नियुक्त है, उसी विधानसे व्यक्तिको परिस्थिति मिली है और उसी विधानका प्रकाश विवेक है। व्यक्तिमें जो विवेक, सामर्थ्य और वस्तु है वह अनन्तकी ही देन है। अतः जिस व्यक्ति-को जो परिस्थिति प्राप्त है, उसका हित उसके सदुपयोगमें निहित है। परंतु व्यक्ति अपनी असावधानीके कारण प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग नहीं करता और अप्राप्त परिस्थितिके चिन्तनमें आबद्ध हो जाता है। प्रत्येक व्यक्तिको सावधानी-पूर्वक प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग करना है। वह तभी सम्भव होगा, जब वह जिस परिस्थितिमें जो कर सकता है उसके अतिरिक्त कुछ भी करनेकी बात न सोचे और जो कर सकता है उससे अपनेको न बचाये। प्रत्येक व्यक्ति पराये दुःखसे [illegible] और प्राप्त सुखको वितरित कर सकता है और परिस्थितिका सुन्दरतापूर्वक सदुपयोग कर सकता है। जो परिस्थितिका सदुपयोग नहीं कर सकता, वह परिस्थितिकी दासतासे मुक्त नहीं हो सकता। अतः प्राप्त परिस्थितिका आदरपूर्वक सदुपयोग करना है और प्राप्त परिस्थितिकी दासतासे भी रहित होना है।

प्राप्त परिस्थितिमें हित है, इस बातको वही जान सकता है जो अनन्तके मङ्गलमय विधानपर विश्वास करता है। जिसे प्राकृतिक विधानमें श्रद्धा नहीं रहती, वह प्राप्त परिस्थितिमें अपने हितका अनुभव नहीं कर सकता। अतः प्रत्येक परिस्थिति किसी विधानसे निर्मित है, इसपर अविचल श्रद्धा तथा विकल्परहित विश्वास करना अनिवार्य है। परिस्थितिका आदरपूर्वक सदुपयोग वही कर सकता है, जो परिस्थिति-को भोग-सामग्री न मानकर साधन-सामग्री जानता है। उसके लिये भविष्यकी आशा नहीं करता और न उससे निराश होता है, प्रत्युत उद्देश्य-पूर्तिके लिये जिसमें नित्य नव उत्कण्ठा तथा उत्साह जाग्रत् रहता है। परिस्थितिका सदुपयोग वही कर सकता है, जो विवेक-विरोधी चेष्टाओंको सहन ही नहीं कर सकता, अर्थात् जो किसी भी भय या प्रलोभनसे प्रेरित होकर विवेकका अनादर नहीं करता; अपने-को अधिकार-लोलुपतासे रहित कर दूसरोंके अधिकारकी रक्षामें ही अपना अधिकार मानता है। जो अपने अधिकारका त्याग कर सकता है, वही कर्तव्यनिष्ठ हो सकता है। सेवाभावसे परिस्थितिका सदुपयोग वही कर सकता है, जो सुखलोलुपतासे रहित होकर परदुःखको अपना दुःख मान लेता है, जिसे दुखियोंके दुःखको अपना लेनेमें ही अपने दुःखकी निवृत्ति भासती है और जो सभीमें अपने सेव्यका दर्शन कर सकता है।

रागरहित हुए बिना प्रेमी प्रेमास्पदको रस प्रदान कर ही नहीं सकता। अतः प्राणीमात्रको रागरहित होना अनिवार्य है और रागरहित होनेके लिये उस मङ्गलमय विधानसे मिली हुई परिस्थितिका सदुपयोग सावधानीपूर्वक करना है। अतः जो करनेमें सावधान नहीं रह सकता, वह कभी भी वास्तविक उद्देश्यकी पूर्त्तिकी ओर अग्रसर नहीं हो सकता। इस दृष्टिसे करनेमें सावधान रहना अनिवार्य है। जो व्यक्ति प्रत्येक परिस्थितिमें उस अनन्तका मङ्गलमय विधान स्वीकार कर लेता है, वह न तो अप्राप्त परिस्थितिका चिन्तन करता

है और न प्राप्त परिस्थितिसे अरुचि करता है; न उसमें ममता रखता है और न परिस्थितिके विपरीत कुछ भी करनेको सोचता है। जो परिस्थिति प्राप्त है, उसके अनुरूप जो कर सकता है, करता है; जो नहीं कर सकता है, उसके लिये लेशमात्र भी चिन्तित नहीं होता है। वह जो कर सकता है, उसके करनेमें असावधानी नहीं करता; इस कारण उसके जीवनमें असमर्थता तथा पराधीनता, अकर्मण्यता तथा आलस्यकी उत्पत्ति ही नहीं होती।

विवेकविरोधी चेष्टाओंका अन्त किये बिना कोई भी व्यक्ति करनेमें सावधान नहीं रह सकता। समस्त संघर्षोंका मूल एकमात्र निज विवेकका अनादर करना है और समस्त आसक्तियोंकी उत्पत्ति एकमात्र विवेकविरोधी चेष्टाओंमें ही है। अतः करनेमें सावधान वही रह सकता है, जिसकी प्रत्येक प्रवृत्ति विवेकके प्रकाशसे प्रकाशित है। जो व्यक्ति करनेमें सावधान रहता है, उसका चित्त अशुद्ध नहीं होता और जिसका चित्त अशुद्ध नहीं होता, उसे जो कुछ हो रहा है; उसमें अपने मङ्गलका दर्शन होता है; क्योंकि उसमें अनन्तका मङ्गलमय विधान ओतप्रोत है। विरक्ति और उदारताको अपना लेनेपर जो कुछ हो रहा है, उसमें मङ्गल-ही-मङ्गल है; क्योंकि विरक्तिसे स्वाधीनता और उदारतासे प्रेमकी अभिव्यक्ति होती है। संयोगके वियोगमें भी व्यक्तिका अपना मङ्गल ही है। वस्तुओंके परिवर्तनमें भी प्राणीका मङ्गल ही है। सुखके अभाव और दुःखके प्रादुर्भावमें भी प्राणीका मङ्गल ही है। जो कुछ हो रहा है, उसमें किसीका अमङ्गल नहीं है।

जो कुछ हो रहा है, उसमें प्राणीका मङ्गल-ही-मङ्गल है, परंतु प्राणी अविवेकके कारण उसे देख नहीं पाता। वह भोगमें ही जीवन मान बैठता है। भोगमें जीवन नहीं है। भोगवासनाओंका अन्त होते ही प्राणीका प्रवेश सहज योगमें अर्थात् नित्ययोगमें स्वतः हो जाता है, जो होनेमें प्रसन्न रहनेकी सामर्थ्य प्रदान करता है। जो होनेमें प्रसन्न नहीं रह सकता, वह क्षोभ अथवा क्रोधसे रहित नहीं हो सकता।

देहाभिमानमें आबद्ध प्राणी न तो मोहरहित ही हो सकता है और न कामरहित। आसक्तियोंमें आबद्ध प्राणीमें न तो अखण्ड स्मृतिका ही उदय होता है और न दिव्य चिन्मय प्रीतिकी ही अभिव्यक्ति होती है, जिसका [illegible] कारण अनन्तकी विस्मृति ही है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि जो स्वतः हो रहा है, उसमें प्रसन्न रहनेमें ही सभीका हित निहित है। जो करनेमें सावधान है, वही होनेमें प्रसन्न रह सकता है और जो होनेमें प्रसन्न रहता है, वही करनेमें सावधान हो सकता है। कारण कि स्वाधीनतापूर्वक की हुई प्रवृत्ति वही हो सकती है, जो निज विवेकके अनुरूप है। प्राणीको जिस विधानसे विवेक मिला है उसी विधानके अधीन समस्त सृष्टिमें कार्य हो रहा है। व्यष्टि और समष्टिका विधान एक है। समस्त शक्तियाँ सर्वदा विधानके अधीन हैं। यदि व्यक्ति विधानका अनादर न करे तो उसका जीवन कर्तव्यका प्रतीक बन जाय। यह नियम है कि कर्त्तव्यनिष्ठ होते ही समस्त शक्तियाँ स्वतः व्यक्तिके अनुकूल हो जाती हैं, जिससे उसका विकास अपने-आप होने लगता है। कर्त्तव्यनिष्ठ वही है, जो होनेमें प्रसन्न है।

'बलके सदुपयोग' तथा 'विवेकके आदर'में समस्त विकास निहित है। इस दृष्टिसे अवनतिका होना प्राणीकी अपनी असावधानी है। प्राकृतिक नियमके अनुसार प्रत्येक व्यक्तिको सर्वथा उत्तरोत्तर उन्नतिकी ओर गतिशील होना है; किंतु व्यक्ति जब मिली हुई स्वाधीनताका दुरुपयोग करने लगता है, तभी उसकी अवनति होती है। अथवा यों कहें कि जब व्यक्ति उस अनन्तकी उदारताका दुरुपयोग करता है, तभी उसका अहित होता है। कर्तव्य-विज्ञान, योगविज्ञान और अध्यात्मविज्ञान उसी विधानकी अभिव्यक्ति है, जिसके अधीन समस्त शक्तियाँ क्रियाशील हैं। स्वाधीनता दुरुपयोगके लिये नहीं, अपितु सदुपयोगके लिये ही मिली थी। जो व्यक्ति मिली हुई स्वाधीनताका दुरुपयोग करता है, उसके लिये परिस्थिति प्रतिकूल हो जाती है। परंतु प्रतिकूलतामें व्यक्तिका अहित नहीं है, अपितु वह उसके सुधारकी ही एक व्यवस्था है।

प्रत्येक व्यक्तिमें क्रियाशक्ति, भावशक्ति और विवेक-शक्ति—तीनों ही किसी-न-किसी अंशमें विद्यमान हैं। विवेकका अनादर, सामर्थ्यका दुरुपयोग, परिस्थितिमें जीवन-बुद्धि आदि कारणोंसे प्राणी चित्तको अशुद्ध करता है। यह प्राणीकी अपनी भूल है। भूलको भूल जान लेनेपर वह स्वतः मिट जाती है। अहंभावकी भूमिमें ही समस्त अशुद्धि अङ्कित है। इसकी निवृत्ति तभी सम्भव है, जब [illegible] जो कर सकता है, उसे कर डाले

और जो नहीं कर सकता है, उसके लिये लेशमात्र भी चिन्ता न करे अर्थात् निश्चिन्त हो जाय। ऐसा होते ही जो कुछ हो रहा है, उसमें अनन्तका मङ्गलमय विधान ही प्रतीत होता है। जब प्राणी कामनापूर्त्तिके सुखकी दासतामें जडता, अभाव, पराधीनता एवं मृत्युका अनुभव कर लेता है, तब वह अशुद्धिजनित सुखलोलुपताका त्याग करनेमें समर्थ होता है; अर्थात् वस्तु, व्यक्ति आदिकी दासतासे मुक्त हो जाता है, जिसके होते ही उसमें 'करनेमें सावधान' और 'होनेमें प्रसन्न' रहनेकी सामर्थ्य आ जाती है।

ॐ आनन्द आनन्द आनन्द !

रास-रहस्य

[त्यागकी पराकाष्ठा]

(श्रीरासपूर्णिमाके अवसरपर श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दारके द्वारा दिया गया एक प्रवचन)

आज रासपूर्णिमा है। 'रास' शब्दको सुनकर हमलोग प्रायः रास-मण्डलियोंद्वारा जो रासलीला होती है, उसीकी बात सोचते हैं, दृष्टि उधर ही जाती है। अवश्य ही यह रासलीला भी उसका अनुकरण ही है, उसीको दिखानेके लिये है, इसलिये आदरणीय है। परंतु भगवान्‌का जो दिव्य रास है, उसकी विलक्षणता थोड़ा-सा समझ लेना चाहिये।

'रास' शब्दका मूल है—'रस' और रस है—भगवान्‌का रूप—'रसो वै सः'। अतएव वह एक ऐसी दिव्य क्रीडा होती है, जिसमें एक ही रस अनेक रसोंके रूपमें अभिव्यक्त होकर अनन्त-अनन्त रसोंका समास्वादन करता है—वह एक ही रस अनन्त रसरूपमें प्रकट होकर स्वयं ही आस्वाद, स्वयं ही आस्वादक, स्वयं ही लीला, धाम और विभिन्न आलम्बन एवं उद्दीपनके रूपमें लीलायमान हो जाता है और तब एक दिव्य लीला होती है—उसीका नाम 'रास' है। रासका अर्थ है—'लीलामय भगवान्‌की लीला'; और क्योंकि लीला लीलामय भगवान्‌का ही स्वरूप है, इसलिये 'रास' भगवान्‌का स्वरूप ही है, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। भगवान्‌की यह दिव्य लीला तो नित्य चलती रहती है और चलती रहेगी, इसका कहीं कोई ओर-छोर नहीं। कबसे प्रारम्भ हुई और कबतक चलेगी—यह कोई बता भी नहीं सकता। कभी-कभी कुछ बड़े ऊँचे प्रेमी महानुभावोंके प्रेमाकर्षणसे हमारी इस भूमिमें भी 'रास-लीला'का अवतरण होता है। यह अवतरण भगवान् श्रीकृष्णके प्राकट्यके समय हुआ था। उसीका वर्णन श्रीमद्भागवतमें 'रासपञ्चाध्यायी'के नामसे है। पाँच अध्यायोंमें उसका वर्णन है। इन पाँच अध्यायोंमें सबसे पहले वंशीध्वनि है। वंशीध्वनिको सुनकर प्रेमप्रतिमा गोपिकाओंका अभिसार है, श्रीकृष्णके साथ उनका वार्तालाप है, दिव्य रमण है, श्रीराधाजीके साथ श्रीकृष्णका अन्तर्धान है, पुनः प्राकट्य है। फिर गोपियोंद्वारा दिये हुए वसनासनपर भगवान्‌का विराजित होना है। गोपियोंके कुछ कूट प्रश्नोंका, गूढ़ प्रश्नोंका, प्रेम-प्रश्नोंका उत्तर है। फिर रास-नृत्य, क्रीड़ा, जलकेलि और वन-विहार—इस प्रकार अन्तमें परीक्षित्‌के संदेहान्वित होनेपर बंद कर दिया जाता है—रासका वर्णन।

यह बात पहलेसे ही समझ लेनी चाहिये। यह 'भगवान्'की लीला है। याद रखनेकी बात है यह। इसीलिये इस रासपञ्चाध्यायीमें सबसे पहला शब्द आता है—'भगवान्'।

> भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः।
> वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः॥
>
> (श्रीमद्भागवत १०। २९। १)

'शरदोत्फुल्लमल्लिकाः' का क्या अर्थ होता है। भला, शरद् ऋतुमें मल्लिका कहाँसे प्रफुल्लित हुई? परंतु इसके विचित्र भाव हैं और विचित्र अर्थ हैं। यह अनुभवकी वस्तु है, कुछ कहा नहीं जा सकता। किंतु इतनी बात तो जान लेनी चाहिये कि यह जो कुछ है—सब भगवान्‌में है और भगवान्‌का है। जडकी सत्ता जीवकी दृष्टिमें होती है। अज्ञानयुक्त हमारी आँखोंमें है—उसकी सत्ता। भगवान्‌की दृष्टिमें जडकी सत्ता ही नहीं है। देह और देहीका जो भेदभाव है, वह प्रकृतिके राज्यमें है, जडराज्यमें है। अप्राकृतिक लोकमें, जहाँ प्रकृति भी चिन्मय है, वहाँ सब कुछ चिन्मय है। वहाँ अचित्‌की कहीं-कहीं जो प्रतीति होती है—वह केवल चिद्विलास अथवा भगवान्‌की लीलाकी

सिद्धिके लिये होती है, वस्तुतः वहाँ अधिक कुछ है ही नहीं। इसलिये होता यह है कि जीव होनेके कारण हमारा मस्तिष्क, क्योंकि जड राज्यमें है, इसलिये जड राज्यमें हम प्राकृतिक वस्तुओंको जडरूपमें ही देखते हैं। इसीलिये कभी-कभी जब हम अप्राकृतिक वस्तुका भी विचार करते हैं, जैसे—भगवान्‌का, दिव्य लीला-प्रसङ्गका, भगवान्‌की रासलीला इत्यादिका, जो सर्वथा अप्राकृतिक चिन्मय वस्तु हैं, तो हमारी यह बुद्धि जडमें प्रविष्ट रहनेके कारण वहाँ भी जडको ही देखती है। इस प्रकार अपनी जड-राज्यकी धारणाओंको, कल्पनाओंको, क्रियाओंको लेकर हम उसीका दिव्य-राज्यमें भी आरोप कर लेते हैं। अपनी सड़ी-गली-गंदी विषय-विष-कर्दमभरी आँखोंसे हम वही सड़ी-गली-गंदी चीजोंकी, हाड़-मांस-रक्तके शरीरकी—जिसमें विष्ठा-मूत्र-श्लेष्म भरा है—कल्पना करते हैं—इसीको देखते हैं। चिन्मय राज्यमें हम प्रवेश ही नहीं कर पाते और इसलिये दिव्य-रासमें भी हमलोग इन जड स्त्री-पुरुषोंकी और उनके मिलनकी ही कल्पना करते हैं। किंतु यह बात सर्वदा ध्यानमें रखनेकी है कि भगवान्‌का यह रास परम उज्ज्वल, दिव्य रसका प्रकाश है। जडजगत्‌की बात तो दूर रही, हम यहाँतक कह दें तो अत्युक्ति नहीं होगी कि ज्ञान या विज्ञानरूप जगत्‌में भी यह प्रकट नहीं होता। इतना ही नहीं, जो साक्षात् चिन्मय तत्त्व है, उस परम दिव्य, चिन्मय तत्त्वमें भी इस दिव्य रसका लेशाभास नहीं देखा जाता। इस परम रसकी स्फूर्ति तो परम भावमयी श्रीकृष्णप्रेमस्वरूपा, कृष्णगृहीतमानसा उन श्रीगोपीजनोंके मधुर हृदयमें होती है और गोपीका वह मधुर हृदय नित्य-निरन्तर केवल भगवान्‌का ही स्वरूप है। इसलिये इस रासलीलाके अथाह स्वरूपको और परम माधुर्यको समझनेके लिये सबसे पहले यह समझना चाहिये कि यह 'भगवान्‌की दिव्य-चिन्मय लीला' है।

श्रीगोपाङ्गनाएँ भगवत्स्वरूपा हैं, चिन्मयी हैं, सच्चिदानन्दमयी हैं। साधनाकी दृष्टिसे भी, इन्होंने जडशरीरका मानो इस तरहसे त्याग कर दिया। सूक्ष्मशरीरसे प्राप्त होनेवाले स्वर्ग, कैवल्यसे अनुभव होनेवाले आनन्दस्वरूपका भी त्याग कर दिया। इनकी दृष्टिमें क्या है? गोपियोंकी दृष्टिमें क्या है—यह बहुत गम्भीर समझनेकी वस्तु है, साधनाकी ऊँची-से-ऊँची साध्य वस्तु। गोपियोंकी दृष्टिमें है—केवल और केवल चिदानन्दस्वरूप प्रेमास्पद श्रीकृष्ण प्रियतम और इनके हृदयमें श्रीकृष्णको तृप्त करनेवाला निर्मल परम प्रेमामृत छलकता रहता है नित्य। इसीलिये श्रीकृष्ण उनके हृदयके प्रेमामृतका रसास्वादन करनेके लिये लालायित रहते हैं, इसीलिये भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं उद्दीपन-मञ्चकी रचना की, गोपाङ्गनाओंका आह्वान किया और इसीलिये शरद्‌की रात्रियोंको उन्होंने चुना और आमन्त्रित किया। यहाँपर यह कल्पना भी नहीं करनी चाहिये कि यहाँ कोई जडराज्य है। गोपियोंके वास्तविक स्वरूपको पहचानना चाहिये। शास्त्रोंमें आता है—ब्रह्मा, शंकर, नारद, उद्धव और अर्जुन-जैसे महान् लोगोंने, बड़े-बड़े त्यागी ऋषि-मुनियोंने यहाँतक कि स्वयं 'ब्रह्मविद्या'ने दीर्घकालतक तप-उपासना करके गोपीभावकी थोड़ी-सी लीला देखनेके लिये वरदान प्राप्त किया। अनुसूया, सावित्री इत्यादि महान् पतिव्रता देवियाँ भी गोपियोंकी चरण-धूलिकी उपासिका थीं। एकमात्र श्रीकृष्णके अतिरिक्त कोई पति है ही नहीं—इस बातको देखनेवाली परम पतिव्रता तो एकमात्र श्रीगोपियाँ ही हैं। दूसरी कोई थी ही नहीं और कभी ऐसा कोई हुआ ही नहीं।

इस स्थितिका भाव जब हम देख सकें, तभी हम गोपियोंकी दिव्य लीलापर विचार कर सकते हैं, अन्यथा कदापि नहीं। सबसे पहले यह बात ध्यानमें रखनेकी है कि यह 'भगवान्'की लीला है। भगवान् सच्चिदानन्दघन दिव्य हैं, अजन्मा हैं, अविनाशी हैं, हानोपादानरहित हैं, सनातन हैं, सुन्दर हैं। इसी प्रकार श्रीगोपाङ्गनाएँ भी भगवान्‌की स्वरूपभूता, श्रीराधारानीकी कायव्यूहरूपा हैं। ये सब इनकी अन्तरङ्ग-शक्तियाँ हैं। इन दोनोंका सम्बन्ध भी नित्य एवं दिव्य है। भाव-राज्यकी यह लीला स्थूलशरीर, स्थूल मनके परेकी वस्तु है। इसीलिये जब गोपियोंका आवरण भङ्ग हुआ, तब इस लीलामें लीलाके लिये भगवान्‌ने उनको संकेत किया—दिव्य रात्रियोंका। उसी संकेतके अनुसार भगवान्‌ने इनका आह्वान किया। यहाँसे आरम्भ होता है यह दिव्य मधुर प्रसङ्ग। बहुत संक्षेपमें तीन-चार श्लोकोंकी बात कह देनी है, अधिक नहीं, वह भी बहुत नीचे उतरकर।

भगवान्‌का यह मिलन कब होता है? जब और किसी वस्तुकी कल्पना भी मनमें नहीं रह जाती और जब भगवान्‌के मिलनके लिये चित्त अनन्यरूपसे अत्यन्त आतुर हो जाता है। यह दशा जब होती है और भगवान् जब इसको देख लेते हैं कि अब यह तनिक-सा संकेत पाते ही, सर्वस्वका त्याग तो कर ही चुका है, उस सर्वस्वके त्यागको प्रत्यक्ष करके आ जायगा। इस प्रकारकी स्थिति जब भगवान् देखते

हैं, तब वे मुरली बजाते हैं और वह मुरली-ध्वनि उन्हींको सुनायी भी देती है। व्रजमें भी उस समय मुरली तो बजी और मुरलीकी जो ध्वनि दिव्य लोकोंमें पहुँच-पहुँचकर वहाँके देवताओंको भी स्तम्भित कर देती है, नचा देती है—उस मुरलीकी ध्वनिको भी उस दिन—आजके दिन—शारदीय रात्रिके दिन—सबने नहीं सुना। वह ध्वनि केवल उन्हींके कानोंमें गयी जो भगवान्से मिलनेके लिये आतुर थे, जिनका हृदय अत्यन्त उत्तप्त था भगवत्-मिलन-सुधाके लिये। केवल उन्हींके हृदयमें, उन्हींके कानोंमें भगवान्की वह मुरली-ध्वनि पहुँची। मुरली-ध्वनि क्या थी—भगवान्का आह्वान था; क्योंकि उनकी साधना पूर्ण हो चुकी थी। भगवान्ने अगली रात्रियोंमें उनके साथ विहार करनेका प्रेम-संकल्प जो कर लिया था।

मुरली बजी—तब क्या हुआ? बड़ी सुन्दर भावना है। बड़ी सुन्दर बात लिखी है श्रीमद्भागवतमें—

निशम्य गीतं तदनङ्गवर्धनं
व्रजस्त्रियः कृष्णगृहीतमानसाः।
आजग्मुरन्योन्यमलक्षितोद्यमाः
स यत्र कान्तो जवलोलकुण्डलाः॥
(१०।२९।४)

यह स्थिति होती है भगवान्के यथार्थ विरही साधककी। बड़ी ऊँची स्थिति है यह। कहते हैं—मुरली बजी और मुरलीकी गीत-ध्वनि उन्होंने सुनी। वह गीत कैसा था? 'अनङ्गवर्धक' था। ये जितनी भी संसारमें हम प्रकृतिकी वस्तुएँ देखते हैं, इसमें कोई भी अनङ्ग नहीं है। प्रकृति स्वयं अनङ्गनहीं है, अङ्गवाली है और ये अङ्गवाली कोई भी चीज गोपियोंके मनमें नहीं रही।

किंतु वह 'अनङ्ग' कौन है? भगवान् हैं—प्रेम है। और कोई भी अनङ्ग है ही नहीं। इस अनङ्गकी, इस प्रेमकी वृद्धि करनेवाली वह वेणु-ध्वनि इनके कानोंमें पड़ी। किनके कानोंमें पड़ी? एक शब्द बहुत सुन्दर है—**'कृष्णगृहीतमानसाः'**—जिनके मनोंको श्रीकृष्णने पहलेसे ही ले रक्खा था। गोपियोंका मन अपने पास नहीं, वे 'कृष्णगृहीतमानसा' हैं। जो कृष्णगृहीतमानसा नहीं होंगी, उनको भयके कारण मोहसे छुटकारा नहीं मिल सकता; वे भगवान्के आह्वानको नहीं सुन सकते, उनका मन तो घरमें फँसा है। उनको तो घरकी ही पुकार सुनायी देती है चारों तरफसे। मुरलीकी पुकार कहाँसे सुनायी देगी? मुरलीकी पुकार तो सारे व्रजमें गयी, किंतु उन्हीं व्रजवालाओंने सुनी जो कृष्णगृहीतमानसा थीं। घरके अन्य लोगोंने नहीं सुनी; क्योंकि घरमें ही उनका मानस रम रहा था, घरने ही उनके मानसको पकड़ रक्खा था। किंतु ये कृष्णगृहीतमानसा व्रजबालाएँ कैसी थीं—इनके मनको श्रीकृष्णने पहलेसे ही ले रक्खा था। इनके पास इनका मन था ही नहीं। वैसे तो हमारे पास भी हमारा मन नहीं है। हमने भी खुला छोड़ ही रक्खा है उसे विषयके बीहड़ वनमें विचरनेके लिये। जहाँ चाहता है, हमको ले जाता है। किंतु यह यथार्थ खुला छोड़ना नहीं, यह तो किसीमें लगाकर छोड़ना है। विषयोंमें लगे हुए मनको हम खुला छोड़ना कहते हैं—पर वह तो विषयोंसे आबद्ध है। खुला छोड़नेका अर्थ क्या है? विषयोंसे सर्वथा इसको विमुख करके खुला छोड़ दें। जब हम विषयोंको मनसे निकालकर, विषयोंसे मनको हटाकर मनको खुला छोड़ देंगे; जहाँ मन सचमुच निर्बन्ध हुआ कि 'भगवान् इसे ले जायँगे।' यह बिल्कुल सच्ची बात है।

भगवान् आते हैं, पर हमारे मनको खुला नहीं देखते। भगवान् आते हैं, पर हमारे मनको किसीके द्वारा पकड़ा हुआ देखते हैं, हमारे मनमें किसीको बैठा हुआ पाते हैं। तब भगवान् देखते हैं कि इसका मन तो अभी खाली नहीं है, बँधा हुआ है—तब वे लौट जाते हैं। किंतु गोपियोंने मनको खुला छोड़ दिया था। सब चीजोंसे मनको खोल दिया था। मनके सारे बन्धनोंको काट दिया था उन्होंने।

'ता मन्मनस्काः' अब क्या हुआ? जब मन इनका ऐसा हो गया, जिसमें संसार रहा नहीं तो भगवान्ने आकर उसको पकड़ लिया। और मनको पकड़कर क्या किया? गोपियोंके मनको अपने मनमें ले गये और अपने मनको उनके मनमें बैठा दिया। **'ता मन्मनस्काः'** का यही अर्थ है कि गोपियोंका अपना मन था नहीं और उनके मनमें, श्रीकृष्णका मन आ बैठा, तो उनका मन कहाँ गया? जब हम गोपीभावकी बात करें तो उसके पहले यह देख लेना चाहिये कि हमारा मन संसारसे मुक्त होकर, खाली होकर, भगवान्के द्वारा पकड़ा जा चुका है या नहीं। भगवान्ने हमारे मनको पकड़ लिया है या नहीं। यदि नहीं पकड़ा है तो हम 'गोपी' नहीं बन सकते।

जिस वेणुगीतको भगवान्ने गाया, वह 'अनङ्गवर्धन' गीत था। अनङ्ग—प्रेम, भगवत्प्रेमके बढ़ानेवाले उस गीतको

उन लोगोंने ही सुना, जिन श्रीगोपाङ्गनाओंका मन श्रीकृष्णने पहलेसे ही ले रक्खा था। उनको सुनते ही क्या हुआ ? जिस प्रकार लोभी आदमीको, जो धनका अत्यन्त लोभी हो और उसको पता भी लग जाय कि अमुक जगहपर धन पड़ा है, जाते ही मिल जायगा। धन लुट रहा है, तो वह कोई साथ नहीं बटोरेगा, सलाह नहीं करेगा कि अमुक-अमुक आदमी साथ चलो। जहाँ उसने बात सुनी कि भागा, चला, न किसीसे बातचीत की, न किसीसे सलाह ली। कहते हैं—इसी प्रकार व्रज-सुन्दरियोंने भी **'अन्योन्यम् अलक्षितोद्यमाः'** किसीसे कहा नहीं कि हम जा रही हैं, तुम भी चलो। इसका एक कारण और भी आयेगा—आगे। उन्होंने किसीसे कहा नहीं; क्योंकि वे तो कृष्णगृहीतमानसा थीं। आह्वान मिलते ही बिना किसीको कहे-सुने चल दीं। चलीं कैसे ? धीरे-धीरे नहीं, मौजसे नहीं, द्रुतगतिसे दौड़ीं। अपने आपको रोक नहीं सकीं, ठहर नहीं सकीं, चालमें धीमापन नहीं ला सकीं—दौड़ीं—जितना तेज दौड़ सकती थीं। बताते हैं दौड़नेमें क्या हुआ **'जवलोल-कुण्डलाः'** उनके कानोंके कुण्डल सब-के-सब अत्यन्त हिलने लगे। वे दौड़ पड़ीं इसीका यह एक संकेत बताते हैं। वे इतनी जोरसे चलने लगीं कि उनके कानोंके कुण्डल हिलने लगे। असलमें आभूषण भी वही है जो भगवान्‌से मिलनेके लिये हिलते हैं, आतुर हो उठते हैं, नहीं तो, जड हैं, पत्थर हैं, उन पत्थरोंमें रक्खा क्या है। इस प्रकार वे गयीं और पहुँच गयीं। **'यत्र सः कान्तः'** जहाँपर उनके कान्त, स्वामी, अपने प्रियतम थे।

'प्रियतम' एक भगवान् ही हैं भला। संसारमें कोई भी प्रियतम—कान्त नहीं है। हमलोगोंने न मालूम किस-किसको कान्त बना रक्खा है। स्त्रियोंके ही 'कान्त' नहीं होते हैं, पुरुषोंके भी होते हैं। हम सब लोगोंके न मालूम कितने 'कान्त' हैं ? पता नहीं है। किंतु वे तो असली 'कान्त' के पास जा पहुँचीं। प्रश्न हुआ—वे एक-एक गयीं या साथ गयीं। घरके काम-काजको सँभालके, सहेजके गयी होंगी न ? और भाग गयीं ? तो कैसे भाग गयीं; क्योंकि कृष्णगृहीतमानसा थीं—मुरलीकी ध्वनि सुनते ही दौड़ पड़ीं। दौड़ क्यों पड़ीं ? क्योंकि समुत्सुका भी थीं—श्रीकृष्णसे मिलनेके लिये परम उत्सुक—परम आतुर थीं। और यही प्रेमी साधकका रूप होता है। ये विशेषण—**'कृष्ण-गृहीतमानसाः'** एवं **'समुत्सुकाः'** बताते हैं उनकी स्थितिको। वे इतनी उत्सुका थीं भगवान्‌से मिलनेके लिये कि जहाँ मिलनेकी बात, किसी भी रूपमें आयी, इनको और कुछ सूझा ही नहीं। आगे बताते हैं—(**काश्चिद् दुहन्त्यः… दोहं हित्वा**) कुछ गोपियाँ गाय दुह रही थीं, गायका थन हाथमें है, नीचे बरतन रक्खा है। मुरलीकी ध्वनि कानमें आयी, वैसे ही दुहना छोड़कर दौड़ीं। किधर दौड़ीं—जिधरसे वह वेणुनाद आ रहा था। (**अभिययुः**) उस वेणुनादकी ओर लक्ष्य करके, वे भागीं। यह तो हुई दुहनेवालियोंकी दशा। और कुछ गोपियोंने दूधको चूल्हेपर रख दिया था औटानेके लिये। जहाँ आह्वान आया, अब औटावे कौन ? जैसे दूध दुहते भागीं, वैसे ही कुछ दूध चूल्हेपर ही छोड़कर दौड़ीं। चाहे उफन जाय, जल जाय !

जबतक जगत्‌की स्मृति रहती है, तबतक हम भगवान्‌का आह्वान नहीं सुनते। भगवान्‌का आह्वान सुनते ही जगत्‌की स्मृति वे भूल गयीं। साधनाका एक ऊँचा स्तर है यह। जगत्‌को याद रखते हुए हम जो भगवान्‌की ओर जाते हैं, वह भगवान्‌की ओर नहीं जाते, जगत्‌में ही रमते हैं। जगत्‌की स्मृति मनमें रहती है। किंतु गोपियोंको तो जहाँ भगवान्‌का आह्वान कानोंमें सुनायी दिया, वे जगत्‌को सर्वथा भूल गयीं। दूध दुहना भूल गयीं और दूधको चूल्हेपर भूल गयीं। भागवतकार आगे कहते हैं, एक तो हलुआ बना रही थी (**संयावम्**)। हलुआ बना रही थी तो हलुआ उतार देती। किंतु उतार देती कौन ? होश रहता तब न। (**अनुद्वास्य अपराः ययुः**) बिना उतारे ही भाग गयीं। हलुआ जल जायगा इतना सोचनेका अवकाश कहाँ ? यही विरही साधककी स्थिति होती है। जब भगवान्‌का आह्वान सुनता है, साधक उस समय जगत्‌की ओर नहीं देखता। बुद्धने भी नहीं देखा जो प्रेमके साधक नहीं थे। जरा-सा एक बार मुड़कर देखा, फिर मुँह मोड़ लिया। बादमें प्रश्न होता है कि 'यह तो अपना-अपना काम था। दूसरेका काम करती होतीं, तब तो इस प्रकार छोड़कर नहीं जा सकती थीं।' किंतु यह भी हुआ। (**परिवेषयन्त्यः तत् हित्वा**) घरवालोंको भोजन परोस रही थीं। यह तो सभ्यता भी होती है कि परोसना तकके कामको तो पूरा करके जातीं। किंतु उसको भी छोड़कर दौड़ चलीं; क्योंकि कृष्णगृहीत-मानसा—समुत्सुका थीं वे। फिर प्रश्न होता है कि खैर, यह तो कोई बात नहीं। बच्चे तो बड़े प्यारे होते हैं। तो कोई

बच्चोंको दूध भी पिला रही होंगी। किंतु (**शिशून् पयः पाययन्त्यः**) शिशुओंको दूध पिलाते हुए भी छोड़कर भाग गयीं, शिशु रोते ही रह गये। (**काः चित् पतीन्**) कुछ पतिव्रताएँ अपने पतियोंकी सेवा कर रही थीं। वे भी दौड़ पड़ीं। इसका उल्टा अर्थ कोई ले लेगा तो भूल ही करेगा; क्योंकि यहाँ लौकिक जगत् नहीं है। यह तो परम पवित्र साधना, परम पावन उस उच्च साधनाकी वस्तु है, जहाँपर जगत् नहीं रहता। इतना ही नहीं; कुछ गोपियाँ खा रही थीं। आदमी खाता है तो सोचता है खाकर ही चलें। किंतु (**भोजनम् अपास्य**) भोजन करते हुए बीचमें ही दौड़ पड़ीं। थाली पड़ी रही। (**अन्याः लिम्पन्त्यः प्रमृजन्त्यः**) कुछ जो अङ्गराग लगा रही थीं, कुछ उबटन लगाकर नहा रही थीं, उबटन लगाकर नहाना था, उबटन लगा ही रह गया। उबटन कहीं लगा, कहीं लगा ही नहीं—ऐसे ही लगा रह गया। कुछ काजल डाल रही थीं नेत्रोंमें (**लोचने अन्जन्त्यः**) एक आँखमें काजल पड़ा और दूसरेमें रह गया, ऐसे ही छूट गया। (**काः चित् व्यत्यस्तवस्त्राभरणाः**) पहन रही थी चोली और सोचा कि ओढ़नी है, उसे सिर-पर डाल लिया। उल्टे कपड़े पहन लिये। हाथका गहना पैरमें पहन लिया। कानका गहना उँगलीमें डाल लिया। पता ही नहीं, गहना है कि क्या है। (**व्यत्यस्त-वस्त्राभरणाः कृष्णान्तिकम् ययुः**) उल्टे-सीधे गहने-कपड़े पहननेसे विचित्र श्रृङ्गार हो गया। चली गयी श्रीकृष्णके समीप। जहाँतक श्रृङ्गार दीखता है, वहींतक श्रृङ्गारका दासत्व है। किंतु वहाँ तो जब भगवान्का आह्वान होता है तो यहाँके श्रृङ्गारका कोई मूल्य नहीं रहता। यहाँका सारा श्रृङ्गार बिगड़कर वहाँका श्रृङ्गार होता है।

इनके लिये एक शब्द और आया है '**गोविन्दापहृतात्मानः**'—गोविन्दने इनके अन्तःकरणका अपहरण कर लिया था। यह हमलोगोंका परम सौभाग्य हो कि हमारे भी मनको भगवान् हरण कर लें, चुरा लें। किंतु वे क्यों चुरा लें? यहाँ एक बात समझनेकी है कि हम यह कामना करें, मिथ्या ही करें, चाहें कि हमारे 'मनको गोविन्द हरण करके ले जायँ।' गोविन्द तो लेनेके लिये तैयार हैं। किंतु कब ले जायँगे? जब हम अपने मनको उनके लिये खाली रक्खेंगे तब। जब भरा हुआ बोझा है, कौन उठाकर ले जाय इसको। मनको हरकर भी ले जायँगे, चोरी करके भी ले जायँगे। पर पहले हम अपने मनको जगत्से खाली करें। इसमें जो कूड़ा-करकट भर रक्खा है, उसको निकाल दें, तब गोविन्द अवश्य इसको हरकर ले जायँगे। गोपियोंने सब कुछ निकाल दिया था अपना, अपने मनसे। इसलिये उनके मनको भगवान् हरण करके ले गये।

इस रासपञ्चाध्यायीमें इसी परम त्यागकी, सबसे ऊँची समर्पणकी लीलाका वर्णन है। उनमें आपसमें कोई भेद है ही नहीं। लोगोंको दिखानेके लिये वे दो बने हैं। श्रीकृष्ण स्वयं ही दो बने हुए हैं। पर इसमें यह दिखाया गया है कि कितना ऊँचे-से-ऊँचा त्याग होना चाहिये—भगवान्की ओर जाना चाहता है उस साधकमें। इसमें उल्टी बात है। लोग देखते हैं, इसमें भोग-ही-भोग है, पर वस्तुतः है इसमें केवल त्याग-ही-त्याग। कहीं भोग है ही नहीं इसमें। इसी त्यागसे आरम्भ होता है यह, और त्यागमें ही इसका पर्यवसान है। उनका सब कुछ त्याग होकर श्रीकृष्णमें विलीन हो गया। उनका जीवन, उनकी क्रिया, उनके सारे काम, उनकी कुल चेष्टाएँ श्रीकृष्ण-सुखमें विलीन हो गयीं। इस प्रकारका त्यागमय जीवन है श्रीगोपीजनोंका।

हम सब भी गोपी बन सकते हैं। यदि किसीको गोपी बनना हो तो तीन बात करनी है उसको। (१) अपने मनसे जगत्को निकाल देना। (२) भगवान्को देनेके लिये मनको तैयार कर देना। उनसे कहना है कि ले जाओ इस मनको नाथ। और (३) किसी भी कारणसे, किसी भी हेतुको लेकर, कहींपर भी अटकनेकी भावना न रहे। कहीं भी अटके नहीं। भगवान्को मन देनेके लिये तैयार कर ले और मनको जगत्से खाली कर ले।

जहाँतक हमारे मनमें विषय भरे हैं और विषयोंको मनसे निकालकर भी जहाँतक हम ज्ञान-विज्ञानकी ओर जाते हैं तो हम अपना मन भगवान्को सौंपना नहीं चाहते। ऐसी स्थितिमें भगवान् लेते भी नहीं हमारे मनको। मन अमन होता है। मन मिट जाता है, मर जाता है पर भगवान्का नहीं होता। और तीसरी बात है, जो सबके लिये आवश्यक है, मनका कहीं न अटकना, यह अटकना गोपीमें नहीं है। गोपियाँ कहीं अटकीं नहीं। न गहनेने अटकाया, न कपड़ेने अटकाया, न भोजनने अटकाया, न घरवालोंने अटकाया, न मान-प्रतिष्ठाने अटकाया। एकको उसके पतिने अटकाया। वह पहले ही पहुँच गयी। आगे बात आती है।

अन्तर्गृहगताः काश्चिद् गोप्योऽलब्धविनिर्गमाः ।
कृष्णं तद्भावना युक्तादध्युर्मीलितलोचनाः ॥

एक गोपीको उसके पतिने रोका, पर वह पहले पहुँच गयी । प्राणोंको देकर पहुँच गयी ।

अतएव आजकी जो शरद्-पूर्णिमाकी रात्रि है, ऊँची बातोंको छोड़ भी दें तो इतनी बात तो समझनी ही है कि यह रात्रि साधनाके लिये बड़े ऊँचे आदर्शको बतलानेवाली रात्रि है । इस दिन साधनाकी परिपूर्णताका जो परम फल होता है, वह प्राप्त किया श्रीगोपाङ्गनाओंने । कैसे किया ? बड़ी विलक्षण बात है । इसमें श्रीकृष्णसे लाभ उठानेके लिये गोपिकाएँ नहीं दौड़ पड़ी थीं । उन्होंने अपने हृदयमें विशुद्ध प्रेमामृत भर रक्खा था । उस प्रेमामृतकी आकाङ्क्षा भगवान्को हो गयी । उस निष्काममें, परम अकाममें, पूर्णकाममें उस पवित्र मधुर प्रेम-रसास्वादनकी इच्छा उत्पन्न हो गयी । अतएव वे भगवान्को सुख देने गयीं, सुख लेने नहीं । यही सार है गोपी-प्रेमका । जहाँतक हम भगवान्के द्वारा सुख चाहते हैं, वहाँतक हम भगवान्के भक्त नहीं हैं । हम भोगोंके दास हैं, सुखके दास हैं । एक प्रेमी ही जगत्में ऐसा है जो भगवान्को सुख देना चाहता है, और कोई है ही नहीं । बड़े-बड़े भक्त भी भगवान्से सुख चाहते हैं । वे भी कहते हैं—'प्रभु ! समीप ही रहें आपके अथवा आपके लोकको ही प्राप्त कर लें । सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य ही प्राप्त कर लें । दर्शन देते रहो—हमको ।' पर ये प्रेमी भक्त तो कहते हैं कि दर्शन न देनेसे यदि तुमको सुख होता हो, तो दर्शन भी मत दो । कभी मत दो, नहीं चाहिये । भोगकी तो बात ही नहीं । तुम्हारे दर्शन भी यदि तुम्हें सुखकर न हों तो हमें नहीं चाहिये । हमें चाहिये केवल तुम्हारा सुख ।' इस प्रकार भगवान्को सुख देनेवाले एकमात्र प्रेमी भक्त ही होते हैं । जिज्ञासु साधक भी मुमुक्षा—मोक्ष चाहता है । कहता है—'महाराज ! हमको मोक्ष दे दो । छुटकारा मिल जाय बन्धनसे ।' सकामीकी तो बात ही नहीं होती यहाँ । भोगोंको चाहनेवाले हमलोग तो नरकके कीड़े हैं, उनकी तो बात ही नहीं है ।

प्रेमी भक्त भगवान्को देते हैं । कुछ लेनेकी, कुछ माँगनेकी तो कल्पना ही नहीं । गोपियाँ गयीं वहाँपर भगवान्को देनेके लिये; क्योंकि भगवान्को कुछ देकर उन्हें सुख मिलेगा । जब भगवान्को कुछ दिया, भगवान्को सुखी देखा तो अपनेको परम सुखी अनुभव किया और इसी प्रकार इनको परम सुखी देखकर भगवान्को भी परम सुख होता है । एक दूसरेको सुखी बनाकर सुखी होना, इसीका नाम 'रास' है । यह रास नित्य चलता है । यह रासपूर्णिमा त्यागकी पराकाष्ठाका रूप बतानेवाली है । प्रेमके साध्यका रूप बतानेवाली है । हम तो साधक भी नहीं बन सके अभीतक । बल्कि बाधक हैं; क्योंकि भोगोंमें रहनेवाला तो अपने-श्रेयमें बाधा ही देता है ।

अपने सारे भोगोंसे हटाकर, सारे भोगोंका परित्याग करके, भगवान्के पवित्र आह्वानपर गोपियाँ अपने-आपको ले गयीं वहाँ और भगवान्के श्रीचरणारविन्दमें पहुँचकर उन्होंने भगवान्को सुख-दान दिया । यही रासका रूप है । यों तो रासकी बड़ी-बड़ी बहुत बड़ी-बड़ी ऐसी-ऐसी बातें हैं जो कभी चुकतीं ही नहीं और उनमें भी आजका तो ऐसा भाव है, जिसके लिये केवल यही कहा जा सकता है कि यह एक बहुत ऊँचा भाव है । इसके अन्तर्गत भी बहुत ऊँचे-ऊँचे दूसरे भाव भी हैं । जिन भावोंको कहनेके लिये न तो अवकाश है और न हम जानते ही हैं । इसलिये इतनी-सी बात जो अपने लिये आवश्यक है कि भगवान्के लिये त्याग करें—संसारकी आसक्ति, ममताका त्याग करें । सारी आसक्ति, सारी ममता एकमात्र भगवान्में प्रतिष्ठित हो जाय । इतना ही हम गोपी-भावसे सीख लें । इतना ही यदि हम राससे ले लें, तो हमारा जीवन कृतकृत्य हो जाय । रास-मण्डलमें तो कभी भगवान् ले जायँगे, कहीं उनकी इच्छा होगी, श्रीराधारानीकी कृपा होगी, वे किसी मंजरीको नियुक्त कर देंगी तो वे स्वयमेव ले जायँगी । अपने पुरुषार्थसे हम नहीं जा सकते; क्योंकि हमारा पुरुषार्थ जहाँ समाप्त हो जाता है, वहींसे प्रेमका पाठ प्रारम्भ होता है । जहाँ चारों पुरुषार्थोंकी सीमा इस ओर ही रह जाती है, वहाँसे प्रेमकी सीमा प्रारम्भ होती है । यही गोपी-प्रेम है—और रास तो उसका एक प्रत्यक्ष पूर्ण स्वरूप है । पूर्णतम प्रेम तो कहा ही नहीं जा सकता । प्रेम पूर्ण होता ही नहीं है । इस राज्यमें तो सारा-का-सारा अपूर्ण ही रहता है । जितना भी मिला, उतना ही थोड़ा होता है । इसमें प्रवेश करनेवालोंके लिये श्रीगोपीजनोंका आचरण परम आदर्श वस्तु है । सारे जगत्को भूलकर, सारे जगत्को त्यागकर, केवल श्रीकृष्णगृहीतमानसा होकर वे अपनेको श्रीकृष्णके चरणोंमें समर्पित कर देती हैं, श्रीकृष्णको सुखी बनानेके लिये और यह विलक्षण भाव ही गोपीभाव है ।

हृदयका शृङ्गार

प्यारका अभिषेक प्राणोंका सरस व्यापार ।
विरहका जीवन सिसकते हृदयका शृङ्गार ॥

यह सभी नीराजना, यह आँसुओंका हार ।
यह उमड़ती पुलक, यह मधु प्रणय-पारावार ॥
वृथा मत हो अर्चनाका यह सकल उपचार ।
व्यर्थ मत हो जाय प्यारे प्राणका उपहार ॥

साधना छलना बनी घुलता हुआ मधुमास—
आज सहसा प्राणमें रमते हुएका हास ॥
'आहटों'में ही बँधी हँसती सिसकती आस ।
प्यारकी छविमें छलकती प्राण ! तेरी प्यास !

किस लिये मन चाहता है मधुर तेरी छाँह ?
किस लिये मन माँगता है यारकी गलबाँह ?
किस लिये पागल लुटाता जा रहा मधुकोष ?
किस लिये लाचार जीता जा रहा तव रोष ?

मानता हूँ पा न पाऊँगा तुम्हें इस पार ।
जानता हूँ छू न पाऊँगा तुम्हें उस पार ॥
बस तड़पने औ, सिसकनेका अमित अधिकार ।
रह गया मँझधारमें है एक यह पतवार ॥

× × ×

अधरोंकी मुसकान तुम्हारे, मीठी अमृत लकीर—
झलक उठी मेरे प्राणोंमें दर्द भरी तस्वीर !
सहसा निविड निशामें चमकी बिजलीकी शमशीर ।
तुम न मिलोगे प्राण ! कभी पर यह निष्ठुर तदबीर ॥

सपनोंमें लहराती आयी तेरी याद नशीली ।
रग-रगमें इतराती आयी तेरी प्रीति रँगीली ॥
तेरी अलकोंकी सुगंधसे महँ महँ यह संसार ।
तेरे तलवोंकी लालीसे ऊषाका शृङ्गार ॥

तेरी सतरंगी चादरका छू लूँ जरा किनारा ।
प्राण ललकते तेरी बाँहोंका हो जरा सहारा ॥
किंतु शून्यको भर अङ्कोंमें सिसक रहा है प्यार ।
तुम न मिलो छलिया ! पर तेरी आहट भी दुश्वार ?

इस बयार औ इस बहारमें तेरा मौन नियन्त्रण ।
'नामसमेतं कृतसंकेतं वादयते मृदु वेणुम्' ॥
व्यर्थ व्यर्थ यह टेर तुम्हारी व्यर्थ हुई मनुहार ।
'हरजाई' तुम क्या समझोगे कैसा होता प्यार ?

जी करता है कह दूँ जगसे प्रीति किये दुख होय ।
जी करता है कह दूँ जगसे प्रीति करो ना कोय ॥
जी करता है कह दूँ जगसे तू है निठुर निराला ।
जी करता है कह दूँ जगसे पड़े न तुझसे पाला ॥

पर अपना ही मन न मानता ओ मेरे दिलदार !
प्यार किये बिन रह न सकूँगा रोकूँ लाख हजार ॥
मिल न सकेंगे हम इस जीवनमें यह सत्य अनोखा ।
पर तेरा दीदार मिलेगा कैसा मीठा धोखा !

सपनोंकी क्या बात जागरण भी बन गया रँगीला ।
मिलन मचलता देख विरहका दामन गीला गीला ॥
तुम न मिलो, आहट न मिले, यह मिले, नित्य वरदान ।
रहे चमकती सदा हृदयमें तेरी मधु मुसकान !

प्यारका अभिषेक प्राणोंका सरस व्यापार ।
विरहका जीवन सिसकते हृदयका शृङ्गार ॥

—'कश्चित्'

मौतकी सजा

[एक सत्य घटना]

(लेखक—डाक्टर श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

'सेशन जज साहबके दामादका किसी व्यक्तिसे झगड़ा हो गया।' 'झगड़ा ही हुआ या कुछ और भी ? बड़ी दिलचस्प बात है। पूरी बात कहो, क्या-क्या हुआ ?'

सड़कके एक किनारेपर खड़े वे दोनों आदमी सेशन जज साहबके दामादके झगड़ेकी बातोंमें रस ले रहे थे।

एक बोला, 'अजी', कुछ न पूछो। दामाद साहब थे तो बड़े अच्छे आदमी, पर मनुष्यपर जब क्रोध सवार होता है तो उसका विवेक नष्ट हो जाता है। उस व्यक्तिने बहुत बुरी-बुरी बातें कहीं और वह मारनेको झपटा तो इन्हें भी गुस्सा आ गया और गुस्सेसे ऐसा आघात लगा कि उसकी घटनास्थलपर ही मृत्यु हो गयी और दामाद साहब पुलिसके द्वारा रँगे हाथों पकड़े गये।

'ओफ ! सेशन जज साहबके दामादद्वारा खून ! अरे ! यह तो बड़ा गजब हो गया है···कत्लके कारण मौतकी सजा मिलेगी, तब तो बेचारे जज साहबकी क्या दशा होगी। अभी कुछ ही दिन पहले तो विवाह हुआ था।'

'हाँ, हाँ ! और क्या। कत्ल करनेकी सज़ा तो फाँसी ही है। लेकिन···आजकल छोटे-छोटे राज्यकर्मचारियोंमें तो क्या, बड़े-बड़े मन्त्रीतक भाई-भतीजे-वाद, पक्षपात और निहित स्वार्थोंकी कीचड़में सने हैं। इससे सामान्य जनताको न्याय नहीं मिल पाता···छूट जायँगे।'

'यह ठीक कहा तुमने। थोड़ेसे अमीर लोग हों, बड़े अफसर हों, उन्हींकी शासनमें प्रभुता हो, जब हमारे समाजमें बेईमानीकी बुरी स्थिति हो, कर्मचारी पथभ्रष्ट हों, तो भला देशको न्याय क्योंकर मिल सकता है ? सेशन जज लाला श्यामनाथ दामादके कत्लके मामलेको घूस देकर रफा-दफा करा देंगे। मैं कहता हूँ—बेचारे दामाद साफ बच जायँगे। ऐसा होना भी चाहिये। अभी कलका लड़का है। क्रोधमें सर्वनाश कर दिया।'

जज श्यामनाथने अपनी पुत्रीका विवाह बड़े ही सम्भ्रान्त घरानेमें किया था। उनका दामाद एक सुशिक्षित युवक था। दुर्भाग्यसे वह बड़ा क्रोधी और उत्तेजक स्वभावका था। आवारागर्द मित्र मिल जानेसे वह बिगड़-सा गया था। अभी उस विवाहको दो ही वर्ष हुए थे कि हाथापाईमें गुस्सा बढ़ा, दुष्ट मित्रोंने प्रोत्साहित किया और दामाद साहबके ऊपर कत्लका मुकदमा बन गया।

कानून अन्धेकी लकड़ीकी तरह है। इसकी पहुँचकी परिधिमें जो भी आ फँसता है, वही पिटता है। यह किसीको नहीं बख्शता ! मुकदमा चला और दामाद साहब उसमें ऐसे उलझ गये, जैसे काँटोंकी झाड़ीमें रेशमी साड़ी। न निकले, न सुलझे। कत्लका मुकदमा संगीन है। मौत और जिंदगीका सवाल होता है।

संयोगकी बात

यह मुकदमा लाला श्यामनाथ सेशन जज साहबकी कोर्टमें ही आ गया। जज साहब असमंजसमें थे कि कैसे क्या न्याय करें। कत्लका कोई प्रत्यक्ष दर्शी गवाह तो नहीं था; पर घटनास्थलपर दामाद साहब ही रँगे हाथों गिरफ्तार हुए थे। पुलिसने उनके विरुद्ध मुकदमा बनाया था।

कठोर नैतिक परीक्षाकी घड़ी थी। उन्हें उसका निर्णय करनेका साहस नहीं हो रहा था। अब क्या करें ?

उन्होंने मनमें कहा, 'मैं बुजुर्ग जज हूँ। इतने वर्षोंसे अपनी न्यायप्रियताके लिये प्रसिद्ध हूँ। कभी एक पैसा रिश्वत नहीं ली, किसीकी सिफारिश नहीं मानी, न्यायके पक्षका सदा समर्थन किया। अब इस मुकदमेमें मेरा ही दामाद अभियुक्त है; पर मैं अपने ऊपर पक्षपात, स्वार्थ या न्यायकी हत्याका दोष कैसे लूँगा ?'

जिस प्रकार रेलके पहिये फँसे रहनेके कारण पटरीके आधीन होते हैं, उसी प्रकार अपना स्वार्थ निहित रहते, या पारिवारिक सम्बन्ध जुड़े रहनेके कारण पूर्वनिर्धारित मान्यताओंमें फँसे रहनेकी वजहसे मस्तिष्ककी गति उनकी गुलाम बनी रहती है। ऐसी परिस्थितिमें आदमी जो भी सोचता या निर्णय देता है, उसमें पक्षपातका आग्रह रहता ही है। इस प्रकारका एकाङ्गी अथवा पक्षपाती मस्तिष्क कभी भी अच्छा मित्र नहीं रहता। जिस प्रकार किसी

मित्रके प्रभावमें रहनेसे कोई उसका परामर्श माननेका अभ्यस्त रहा करता है, उसी प्रकार मस्तिष्कके प्रभावमें रहनेसे मनुष्य उसकी आज्ञा मानता ही है। ऐसी स्थितिमें पक्षपाती मस्तिष्क न्याय देनेमें सक्षम नहीं होता।

बहुत सोच-विचारकर जज साहबने सरकारको अपनी मनःस्थिति स्पष्ट करते हुए एक पत्र लिखा—

'चूँकि यह मुकदमा ऐसा है, जिसमें अभियुक्तका मुझसे सीधा सम्बन्ध है, मुझसे मानव-दुर्बलतावश कहीं अन्याय या पक्षपात न हो जाय, इसलिये मेरी प्रार्थना है कि यह मुकदमा किसी अन्य जज महोदयकी अदालतमें ट्रांसफर कर दिया जाय।'

स्पष्टीकरण कर जज साहब सोच रहे थे कि वे उलझनसे निकल गये हैं। कत्लके मुकदमेका जो बुरा निर्णय होगा, वह तो अन्ततः सहन करना ही होगा। 'मैं एक साधारण मानव हूँ। सम्बन्धी देखकर न्यायसे फिसल न जाऊँ। मैं स्वयंको कैसे धोखा दे सकता हूँ? मैंने जीवनभर कठोर अनुशासनात्मक जीवन-क्रम व्यतीत किया है। मैं भगवान्‌के दरबारमें झूठा नहीं होना चाहता।'

किंतु फिर नया संकट आया।

उनके पत्रके उत्तरमें तत्कालीन अंग्रेज गवर्नर साहबने लिखा, 'सरकारको आपके न्यायपर पूरा विश्वास है। आपसे पक्षपातका अपराध नहीं हो सकता। इस कत्लके मुकदमेका फैसला आपकी अदालतमें ही होगा। यह केस ट्रांसफर करनेकी कोई आवश्यकता नहीं समझी जाती।'

जज साहबके परिवारवाले, इष्ट-मित्र गवर्नर साहबका उत्तर सुनकर हर्षित हुए कि 'चलो दामादकी जान बच जायगी। लड़केके जीवनको कोई खतरा नहीं रहेगा। भले ही जज साहबकी अदालतमें थोड़ी-बहुत सज़ा मिल जाय, पर दामाद साहबके प्राणोंको तो कोई आशंका नहीं है।'

मामूली बुद्धिके आदमियोंके लिये ऐसा सोचना स्वाभाविक भी था। मनुष्य न चाहते हुए भी अपने परिवार, सम्बन्धी और मित्रोंके पक्षमें अनायास ही भावुक हो उठता है। मोहवृत्तिमें उसे उचित-अनुचित, यथार्थ हानि-लाभ, न्याय-अन्यायका विवेक नहीं रहता। स्वार्थकी संकुचित भावनाएँ आदमीके गुप्त मनमें बुरी तरह चिपटी रहती हैं। मनुष्य स्वयं अपना ही सीमित लाभ सोचता है। वह संकुचित स्वार्थोंमें उसी प्रकार चिपटा रहता है, जैसे कीचड़में कमल! स्वार्थभावना हमें ईर्ष्या-द्वेषमें फँसाये रखती है। प्रायः देखा जाता है कि कई नीच प्रकृतिके व्यक्ति स्वार्थवश किसीसे मित्रता कर लेते हैं, किंतु जब उनका स्वार्थ पूरा हो जाता है, तो उसे त्याग देते हैं। ऐसे संकुचित वृत्तिके लोगोंको समाजमें निन्दा और अपयश ही मिलता है।

कत्लके इस मुकदमेकी सुनवाई लाला श्यामनाथके कोर्टमें ही हुई। पुलिसने उन्हें घटनास्थलपर रँगे हाथों पकड़ा था। सरकारी वकीलने सबूत पेश किया और फिर वकीलोंमें बहस हुई। परिस्थिति ही कुछ ऐसी बनी कि अदालतमें युवकको कत्लका अपराधी ठहराया गया। हत्याका अपराध सिद्ध हो गया।

यदि जज साहब कोर्टसे बाहर होते, तो घरवाले उनके दामादको बचानेके लिये पुनः उनसे अनुनय-विनय करते, पर कोर्टमें जजकी कुर्सीपर बैठे हुए श्यामनाथजीतक कोई सिफारिश पहुँचाना सम्भव नहीं था। मुकदमेका फैसला खुद जज साहबकी विवेकबुद्धि और न्यायपरायणतापर टिका हुआ था।

किसीको पता नहीं था कि मुकदमेका फैसला क्या होगा? कोर्टमें बड़ी सरगर्मी थी। लोग निर्णयके सम्बन्धमें तरह-तरहके अनुमान लगा रहे थे।

उनके सम्बन्धी सोच रहे थे कि 'जज साहबके आखरी फैसलेमें कोई लूपहोल निकलकर दामाद किसी-न-किसी प्रकार मुक्त हो जायगा; क्योंकि जजसाहबसे कई बार पहले ही सिफारिश करायी जा चुकी थी। इस मामलेमें स्वयं उनकी सुपुत्रीके सुहागका प्रश्न था। मनुष्य स्वार्थसे कब छूटता है? यहाँ भी और जगहोंकी तरह स्वार्थ न्यायकी गर्दनपर सवार हो जायगा।

जब मनुष्य अकेला होता है, उसके आसपास शान्ति और विवेक होता है, तो उसे कोई पाप करनेमें भय लगता है। एक शंका होती है।

वह किसके कारण होती है?

उसे बार-बार ऐसा क्यों लगता है कि कोई उसके पापको देख रहा है?

क्यों उसका शरीर पापकर्ममें प्रवृत्त नहीं होता?

और क्यों बादमें पापीकी तरह वह मलिन रहता है? क्या कभी कोई इस बातपर विचार करता है कि जब उसके पापको देखनेवाला कोई मौजूद नहीं, तब उसे डर किसका है?

कौन उसे अन्यायपूर्ण कार्य करनेसे निःशब्द रोकता है ! कौन उसे पापसे रोकता है ! कौन उसके मन, प्राण और शरीरमें कम्पन उत्पन्न कर देता है ?

निस्संदेह यह मनुष्यका स्वयं अपना ही अन्तरात्मा है, जो उसे पापसे हटानेके प्रयत्नमें विविध प्रकारकी शङ्काओं, संदेहों एवं कम्पन आदिसे सावधान करता रहता है। जो मनुष्य अपने इस अन्तरात्माके संकेतोंकी उपेक्षा नहीं करता, वह पाप-कर्मसे बच जाता है, पर जो मनुष्य उसकी अवहेलना करके पाप करता है, उसका अन्तरात्मा एक-न-एक दिन उसकी गवाही देकर दण्डका भागी बनाता है।

यह हो सकता है कि किसीका पाप-कर्म, अन्यायपूर्ण आचरण दुनियासे छिपा रहे, किंतु उसके अपने अन्तरात्मासे कदापि नहीं छिप सकता। जब किसी कारणवश मनुष्यको अपने पापका दण्ड किसी औरसे नहीं मिल पाता, तो समय आनेपर उसका अन्तरात्मा उसे स्वयं दण्डित करता है।

जजसाहबने अपने अन्तरात्मामें विद्यमान परमात्माकी आवाजको सुना और उसका अनुसरण करनेका निश्चय किया। मानवका निर्मल अन्तरात्मा उसके शरीरका कोई अवयवमात्र नहीं है। वह मानव-शरीरमें ईश्वरका प्रतिनिधि है, जो हर समय मनुष्यके कर्मोंका लेखा-जोखा तैयार किया करता है। हमारा यह अन्तरात्मा एक ऐसा अलौकिक यन्त्र है, जिसके माध्यमसे ईश्वर मनुष्यके लिये अपना संदेश भेजा करता है।

जजसाहबने अपने ही अपराधी दामादका फैसला सुनाया, तो वह आशासे सर्वथा विपरीत था। सभी हैरतमें थे कि यह विरोधी निर्णय कैसे हो गया।

जजसाहबने न्यायकी दृष्टिसे पक्षपातरहित फैसला सुनाते हुए खुद अपनी ही कलमसे अपने प्रिय दामादको फाँसीका दण्ड दे दिया था, पर उनके चेहरेपर शिकन न था। वे उस समय न्यायमूर्ति जज थे और उनका दामाद एक कातिल ! हत्याका अपराधी।

विलक्षण न्यायप्रियता थी !

फाँसीकी सजा सुनकर सब अवाक् रह गये। इन जजसाहबको आज क्या हो गया है ? क्या इनके हृदयमें अपनी पुत्रीके प्रति प्रेम या स्नेह जरा-भी नहीं है। क्या इनके दिलमें धड़कन नहीं है ? क्या ये खुद अपने ही हाथों पुत्रीको विधवा बनाने जा रहे हैं ? क्या वास्तवमें श्वशुरके हुक्मसे दामादको फाँसीके क्रूर झूलेपर झूलना ही पड़ेगा ? जितने मुँह, उतनी ही बातें !

फैसलेके बाद कान्स्टेबिल हथकड़ी-बेड़ी डाले अपराधीको जेलखाने ले जाने लगे। अदालतमें सर्वत्र काना-फूँसी चल रही थी। स्वयं अपने हाथों अपने दामादको मौतकी सजा ! ऐसा विलक्षण न्याय कोर्टमें लोगोंने पहली बार ही देखा था !

'ठहरो ! तनिक मुझे इनसे मिलना है।'

यह कहकर जजसाहब अपराधीके साथ कोर्टके बाहर चले आये। यह क्या ! जजसाहब, दामादके गलेसे लिपटकर फफक-फफककर बिलखने लगे ! वृद्धका करुण-क्रन्दन आसपासके लोगोंसे देखा नहीं जाता था ! वे इतना फूट-फूटकर रोये कि हिचकी बँध गयी। बेहोशी-सी आने लगी। पास खड़े कान्स्टेबिल चकित खड़े उनका विछोह देख रहे थे। उन्हें रह-रहकर यह भाव आ रहा था कि न्यायरूपी चक्कीके पत्थरोंमें उन्होंने अपनी पुत्रीका सुहाग पीस डाला था। उनका मनस्ताप अवर्णनीय था।

उस दिन अदालतमें और कुछ न हो सका। शेष सब मुकदमे स्थगित कर दिये गये। कई अधिकारियोंने पकड़ अर्द्धविक्षिप्त जजसाहबको उनकी कोठीतक पहुँचाया। कोर्टमें एक अजीब उदासी छा गयी।

जब जजसाहब घर लौटे, तो वहाँ उससे भी भारी कुहराम मचा हुआ था। माँ और पुत्रीका करुण विलाप देखकर उनके नेत्रोंसे और भी तेजीसे अश्रुधारा बह निकली। वे धीरेसे अपने कमरेमें चले गये और गुमसुम बैठ गये। सोच रहे थे, 'हाय ! इस सब ट्रैजिडीका मैं ही उत्तरदायी हूँ। स्वयं अपने ही कलमसे न्यायप्रियताके चक्करमें दामादको मृत्युदण्ड दे आया, जब कि यदि मैं चाहता, तो उसे बचा सकता था। लोग चार दिन चर्चा करके खुद ही चुप हो बैठते।'

मृत्युदण्डके लिये जो तारीख फैसलेमें थी, उसमें अभी देर थी। इस फैसलेकी चर्चा होते-होते उच्च अधिकारियोंतक पहुँची। गवर्नरने स्वयं इसमें दिलचस्पी ली और तुरंत तार भेजकर जजसाहबके दामादको मुक्त कर दिया या ऐसी व्यवस्था हुई, जिससे उनको उच्च न्यायालयसे मुक्त कर दिया गया !

श्यामका स्वभाव—१०

(लेखक—श्रीसुदर्शनसिंहजी)

माखनप्रेमी नन्दलाल—लेकिन पूछिये तो इसका सबसे प्रिय आहार है—'अपनोंका अभिमान ।' यह हरि 'गर्व-हारी' है ।

'तात राम कर सहज सुभाऊ । जन अभिमान न राखहिं काऊ ॥'

देवर्षि नारदको अभिमान हुआ—'मैंने कामको जीत लिया ।'

'जिता काम अहमिति मन माहीं ।'

परिणाम यह हुआ कि विश्वमोहिनीसे विवाह करनेको उतावले हो गये । यह विश्वमोहिनी—न कोई नगर, न नरेश और न कोई विश्वमोहिनी । देवर्षिके मनमें जो गर्व उत्पन्न हुआ—गर्वहारीने उसे दूर करनेके लिये यह माया रच डाली ।

× × ×

'गरुड़जी ! हनुमान्‌जी मलयाचलपर हैं । उन्हें कहिये कि उनको मैंने स्मरण किया है ।' एक दिन सहसा द्वारकाधीशने आज्ञा की । अब गरुड़को क्या पता कि उनके ये लीलामय क्या करना चाहते हैं ।

'प्रचण्डवेगो मधुसूदनासनः ।'

भगवान्‌के वाहन गरुड़—उनके वेगकी समता नहीं कहीं । उनको अपने तीव्रतम वेगका गर्व हो तो उचित गर्व नहीं है यह ? किंतु जिसका आहार ही निजजनोंका गर्व है—उसको आप कह भी क्या सकते हैं ? उसके विशाल नेत्र इसी खोजमें रहते हैं कि कहीं अपनोंमें कोई अहंकार दीखे और झट हाथ बढ़ाकर वह 'हप्प' कर ले ।

'हनुमान्‌जी ! आपको भगवान्‌ने बुलाया है द्वारकामें ।' गरुड़को कितने क्षण लगते थे । वे पहुँचे और संदेश सुनाया उन्होंने—'मेरी पीठपर बैठ लीजिये तो झटपट पहुँचा ँ ।'

'भगवान्‌ने बुलाया है ? कौन भगवान् ?' हनुमान्‌जीने पूछ लिया ।

'वही नवजलधर सुन्दर !' गरुड़ अन्ततः श्रीहरिके वाहन हैं । वे इतना जानते हैं कि हनुमान्‌जीके आराध्य कौन हैं । 'भगवान् भी कहीं दो-चार होते हैं !'

'अच्छा, आप चलिये । मैं आ रहा हूँ ।' हनुमान्‌जीने सहज भावसे कहा । भगवान् नारायणके वाहनकी पीठपर बैठनेकी बात वे कैसे सोच सकते थे ।

'आपको बहुत देर लगेगी ।' गरुड़ने हठ किया—'मैं शीघ्र पहुँचा दूँगा ।'

'मैं आपसे पहले पहुँच रहा हूँ । आप चलिये ।' हनुमान्‌जीने हँसकर कहा ।

'आप समझते तो हैं नहीं ।' गरुड़ झुँझलाये । यह कपि उनसे पहले पहुँचनेकी बात करता है । 'प्रभुने बुलाया है । मैं आगे जाकर उन्हें क्या उत्तर दूँगा और मेरे वेगको आप पहुँच सकते नहीं । चलिये—ले चलता हूँ मैं ।'

गरुड़को अपनी शक्तिका भी गर्व कम नहीं है । उन्होंने अमृत-हरणके समय समस्त देवताओंके छक्के छुड़ा दिये हैं । इन्द्रके वज्रसे भी उनका कुछ बिगड़ा नहीं । वज्रकी अमोघताका सम्मान करनेके लिये अपना एक पंख गिरा दिया था उन्होंने स्वेच्छासे । यह वानर उनकी बात ही नहीं सुनता तो इसे बलपूर्वक उठा ले जाना चाहिये ।

'मेरे प्रभु भी बड़े विनोदी हैं । उन महाराजाधिराजने कैसा धृष्ट पक्षी पाल लिया है ।' हनुमान्‌जीने मनमें कहा । बलपूर्वक अपनेको उठाने आये, गरुड़को पकड़कर फेंक दिया उन्होंने । गरुड़ दूर द्वारकाके समीपके समुद्रमें जा गिरे ।

उधर द्वारकामें गरुड़को भेजकर द्वारकाधीशने अपने चक्रको आज्ञा दी—'द्वारपर रहो । कोई अपरिचित भीतर न चला आवे ।'

चक्रको भी गर्व था कि उसकी शक्तिका अन्त नहीं है । वह द्वारावरोध करके खड़ा हो गया । श्यामसुन्दरने सत्यभामाजीसे कहा—'मैंने हनुमान्‌जीको बुलाया है । वे मेरे श्रीरामरूपके आराधक हैं । मुझे सिंहासनपर धनुर्धर राघवेन्द्र होकर बैठना है । अतः श्रीजनकतनयाके वेशमें बैठनेके लिये रुक्मिणीको बुला दो । श्रीमैथिलीके शील-सौन्दर्यकी छाया तुम्हारी बड़ी बहिनमें है ।'

'मैं क्या सौन्दर्यमें कम हूँ किसीसे !' सत्यभामाजीने

तनिक रूठते स्वरमें कहा—'वेश ही थोड़ा परिवर्तित करना है, सो मैं कर लेती हूँ।'

'जैसी तुम्हारी इच्छा।' श्रीकृष्णचन्द्र मुस्कराकर रह गये। उधर हनुमान्‌जी द्वारका पहुँचे तो चक्रने द्वारपर रोका—'कौन भीतर जा रहा है ?'

'मैं हनुमान्! प्रभुने बुलाया है मुझे।'

'आज्ञा नहीं है—भीतर जानेकी।'

'आप पूछ लीजिये! प्रभुने ही बुलाया है।'

'मैं द्वार छोड़कर नहीं जाऊँगा। रुके रहो। कोई आयेगा तो उसे पूछनेको कह दूँगा।'

'पता नहीं कोई कब आयेगा।' हनुमान्‌जीने सोचा। चक्र जाने दे नहीं रहा था। उसे उठाकर उन्होंने मुखमें रख लिया और भीतर पहुँच गये।

'हनुमान्! आ गये तुम ?' दूर्वादलश्याम, धनुर्धर सिंहासनासीन प्रभुके चरणोंपर श्रीमारुतिने मस्तक रक्खा तो अत्यन्त स्नेहसे उनके सिरपर कमल-कर फेरते वे लीलामय हँसकर पूछने लगे—'तुम्हें द्वारपर किसीने बाधा तो नहीं दी ?'

'यह रोक रहा था मुझे।' मुखमेंसे चक्रको निकालकर सम्मुख करते हुए हनुमान्‌जी बोले—'इसे प्रभुके पास ही लेता चलूँ।'

इतनेमें समुद्र-जलसे सर्वथा भीगे, हाँफते गरुड़ पहुँचे। अपने आराध्यके चरणोंमें हनुमान्‌जीको बैठे देखा। उन्होंने तो मस्तक झुका लिया।

'गरुड़! तुम्हारी यह क्या दशा! समुद्रस्नान करने लगे थे ?' प्रभुने पूछा।

'आपने यह पक्षी पाल तो लिया है; किंतु यह बहुत धृष्ट है। साथ ही बहुत मन्दगति है। यह तो पता नहीं कितनी देरमें आ पाता। मैंने इसे पकड़कर द्वारकाकी ओर फेंक दिया था।' हनुमान्‌जीने स्वयं ही सुना दिया। तनिक रुककर फिर उन्होंने हाथ जोड़कर मस्तक झुकाया—'प्रभु!'

'क्या कहना है ?' मुस्कराये लीलामय।

'महारानीजी कहाँ हैं ? आज मैं अपनी माताको क्यों नहीं देख रहा हूँ ?' हनुमान्‌जीने सत्यभामाजीको प्रणाम किया ही नहीं था। अब वे पूछने लगे—'आज यह किस दासीको प्रभुने इतना सम्मान दे रक्खा है ?'

लज्जासे आरक्तमुख सत्यभामाजी स्वयं उठकर चली गयीं। उन्होंने स्वयं रुक्मिणीजीको भेजा—'बहिन! तुम्हारा वह वानर बेटा आया है। तुम्हारे अतिरिक्त दूसरी कोई उसे द्वारकेशकी महारानी दीखती ही नहीं। शेष सबको तो वह दासी ही समझता है। जाओ, अपने उस पुत्रको सँभालो।'

'ओह! हनुमान्!' रुक्मिणीजीमें जो वात्सल्य जगा तो सत्यभामाके स्वरके आक्रोशपर उनका ध्यान ही नहीं गया। वे जैसे थीं, वैसे ही तीव्रगतिसे बढ़ गयीं।

× × ×

आप इस भ्रममें न रहें कि श्याम किसीका—कम-से-कम हनुमान्‌जीका गर्व तो क्षमा कर ही देगा। अपनोंमें किसीका गर्व यह क्षमा नहीं करता। स्वजनोंका अभिमान सह लेना इसके स्वभावमें नहीं। हनुमान्‌जीको तो त्रेतामें ही यह शिक्षा मिल गयी। एक बार उनके मनमें तनिक-सा अपने बलका गर्व आया। अन्यथा तो वे नित्य निरभिमान हैं। लंकाको भस्म करके, रावणकी सेनाका गर्व चूर करके वे ऋष्यमूकपर लौटे, तब भी उनका कहना था—

'नाथ न कछु कपि की प्रभुताई। प्रभु प्रताप जो कालहिं खाई॥'

लंकाके युद्धमें भी श्रीआञ्जनेय निरभिमान रहे। अभिमान एक बार आया। श्रीरामके अश्वमेधीय अश्वके रक्षकोंमें वे थे। वाल्मीकि-आश्रमके पास अश्व आया तो श्रीजनक-तनयाके लड़ैतोंने उसे पकड़कर बाँध लिया। दो छोटे बालक, उनके छोटे-छोटे धनुष—उन्हें युद्धमें सम्मुख देखकर हनुमान्‌जीको लगा—'कुम्भकर्ण और रावणतक मेरा मुष्टिप्रहार नहीं सह सके, मेघनाद-जैसा धनुर्धर भागता था मेरे सामनेसे, ये बच्चे लड़ेंगे मुझसे ?'

अपने बलका गर्व आया यहाँ मनमें और लव-कुशके धनुषसे दिव्य बाण बरसने लगे। अयोध्याकी सेनाके शूर तो मूर्छित भूमिमें बिछे पड़े थे। कुशने हनुमान् और अंगदको बाण मार-मारकर आकाशमें उठा दिया और वहीं शराघातसे चक्कर खिलाते रहे। अत्यन्त आहत, व्याकुल करके तब इन्हें नीचे गिराया और फिर बाँध लिया।

कुशके द्वारा बाँधे हनुमान्‌को बन्धनमुक्त कराया श्रीविदेहनन्दिनीने। उस दिन सदा-सदाके लिये पवनकुमारका स्वपौरुष-गर्व गल गया।

× × ×

प्रेमकी ध्वजा गोपियाँ—महारासके प्रारम्भमें गर्व उनमें आ गया। वे श्रीव्रजराज-कुमारकी वंशीध्वनि सुनकर अपने देह-गेह, स्वजन-स्नेहको भूलकर दौड़ी आयी थीं वनमें। श्यामने उन्हें पहले तो कह दिया—'घर लौट जाओ!' किंतु वे लौट जानेके लिये तो आतुर होकर दौड़ी नहीं आयीं। उनका रुदन, उनका दृढ़ अनुरोध—कन्हाई द्रवित हो गया। इसने उनका सम्मान किया।

श्यामका स्वभाव ही है कि अपनायेगा, सम्मान करेगा तो अपनेको न्यौछावर कर देगा। कुछ उठा नहीं रक्खेगा। यह रागी है तो पराकाष्ठाका और विरागी है तो भी पराकाष्ठाका ही। इसने गोपियोंका भरपूर सम्मान किया। बस, उनको भ्रम हो गया—उनको लगा कि हम 'इतनी सुन्दरी, इतनी गुणवान् हैं कि मदनमोहन हमपर मुग्ध हो गये हैं।'

तासां तत् सौभगमदं वीक्ष्य मानं च केशवः।
प्रशमाय प्रसादाय तत्रैवान्तरधीयत॥
(श्रीमद्भागवत १० । २९ । ४८)

केशवने देखा—'इनमें तो अपने सौन्दर्य, सौकुमार्य आदिका मद-गर्व आ गया और इस गर्वमें ये अब मुझसे रूठने—मान करने लगीं।'

रूठेको मनानेमें मोहनको आनन्द आता है; किंतु अपने अभिमानके कारण कोई मान करे तो? तब तो श्रीकृष्णचन्द्र उस अभिमानको नष्ट करेगा ही और ऐसा करता है वह 'प्रसादाय' कृपा करके—अतिशय कृपापात्र बनानेके लिये। गोपियोंका मान नष्ट करनेके लिये यह अन्तर्हित हुआ और यह भी उनपर कृपा करनेके लिये ही इसने किया।

× × ×

'अस अभिमान जाइ जनि भोरे।
मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥'

अभिमान-अभिमानमें भी अन्तर है—बहुत बड़ा अन्तर। अपने बल, रूप, गुण, धन, विद्या, बुद्धि, साधन भजनका अभिमान एक बात और उससे सर्वथा भिन्न अभिमान कि सर्वलोकेश्वर, सर्वसमर्थ, सर्वज्ञ, सकलसद्गुणगणैकधाम हमारा अपना है। उसका बल हमारा बल है। उसका अनन्त ज्ञान हमारा ज्ञान है। उसकी शक्ति हमारी शक्ति है। हम अपराजित—हम अदम्य हैं उनके बलपर। कलि और उसके पाप-ताप, उसके परिवार-परिकर किस क्षुद्र गणनामें आते हैं। सिर पीटें नरकके अधिदेव और स्वर्गका इन्द्र दोनों—कन्हाई हमारा है। हमारी ओर देखनेका साहस करनेकी शक्ति नहीं किसीमें।

युग-युगमें तप करनेवाले महातापस, समाधिसिद्ध योगी, भुवनविख्यात ज्ञानी गिर गये मायाके एक नन्हे झटकेमें। पुराण क्या इसके प्रमाण नहीं हैं? क्यों हुआ ऐसा? इसलिये कि इस नटखट गोपकुमारको अहंकार किसीका सह्य नहीं। किसीको लगा—'मैं पुराना तपस्वी, योगी, ज्ञानी···' बस, इसकी अँगुलियाँ हिलने लगीं। स्वर्गकी अप्सरा आयें, न आयें, निमित्तोंकी कमी है नन्दलालके समीप? एक चिड़िया पेड़परसे बीट कर देगी सिरपर और तपस्वीके तपको क्रोध निगल जायगा। बाबा नन्दका लड़का अँगुली हिलायेगा तो एक तिनकेको किसी लोकपालसे समर्थ बनाकर दिखा देगा।

'जनको पन राम न राख्यो कहाँ?'

दूसरी ओर इस व्रजराजके लालमें एक अद्भुत आन है—जो उसके बलपर, उसके सहारे कहीं खड़ा है, उसका मान तो कन्हाई अपने मानसे महान् मानता है। उसको पराजित करनेकी शक्ति त्रिभुवनमें नहीं—

'जौं मम चरन सकसि सठ टारी।
फिरहिं राम सीता, मैं हारी॥'

बालि-तनयने अपने बलपर प्रतिज्ञा की थी यह! रावणके पुत्र और परिकर अंगदका चरण हिला नहीं सके। स्वयं दशग्रीव उठा—उसपर अंगद व्यंग न भी करते, क्या होता था? उनके चरणके साथ जिसका आश्रय था, वह आश्रय कभी डिगा है?

× × ×

'आजु जौं हरिहि न सस्त्र गहाऊँ।
तौ लाजौं गंगाजननी कौं संतनु सुत न कहाऊँ॥'

भीष्मपितामहने अपने बल-पौरुषके गर्वमें यह प्रतिज्ञा

की थी ? प्रतिज्ञा उसके बलपर की गयी थी जो विपक्षमें अर्जुनके रथपर सारथि बनकर बैठता था और जिसने स्वयं महाभारतके युद्धमें शस्त्र न उठानेकी प्रतिज्ञा कर रक्खी थी ।

यह कोई नवीन अवसर नहीं था । व्रजमें आये दिन ऐसे अवसर आते थे और कन्हाईको बचपनका अभ्यास है—ऐसे अवसरपर व्यवहार करनेका ।

कोई गोपबालक कह देता था—'कनूँ ! मैं तुझसे बलवान् हूँ ।'

श्याम ताली बजाकर कहता—'मैं तुझसे बलवान् । चल, मल्ल-युद्ध कर ले ।'

'आ आ ! देख तुझे कैसी पटकनी देता हूँ ।'

'हाँ—मैं तुझे पटकनी दूँगा ।'

आप जानते हैं—किसकी बात रहेगी ? कौन किसे पटकनी देगा ? मैया यशोदाका सुकुमार लाला ऐसे मल्लयुद्धमें सदा हार जाता है । सखाको विजय मिलनी चाहिये । अखाड़ेमें विजयश्री लेनी होगी तो मामा कंसके मल्लोंको चारों खाने चित्त करके ले लेगा । जो दृढ़ आस्थावान् है—'कन्हाई मेरा !' उसे पराजित तो कन्हाई स्वयं भी नहीं कर सकता ।

प्रतिज्ञा महाभारतयुद्धमें भीष्मकी रहनी थी । कृष्णको अपनोंके सम्मुख हार जानेमें, अपनी प्रतिज्ञा तोड़ देनेमें हिचक कहाँ है । यह तो इसीलिये 'रणछोड़राय' बना ही है ।

जो अभिमान किसीका—किसी निजजनका अपने बल-गुण-साधनका है, उसे श्याम रहने नहीं दे सकता । इसका स्वभाव है—'जनके गर्वका अपहरण ।' किंतु जो मान, जो गर्व श्यामके सहारे है, कन्हाईके अपनत्वका है—धन्य है वह मान । नित्य अपराजित है वह । उसके पीछे तो श्रीव्रजेन्द्रनन्दन अपना मान, अपनी प्रतिज्ञा भी भंग करनेको उद्यत रहता है । दूसरा कौन है जो उसको अफल बना सकता है !

आधुनिक सभ्यता और भारतीय सभ्यता

यूरोपमें चारों ओर जो अशान्ति फैली है, उससे स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक सभ्यता अशिव और अन्धकारमय शक्तियोंका प्रतिनिधित्व करती है, जब कि प्राचीन यानी भारतीय सभ्यता मूलतः दैवी शक्तियोंका प्रतिनिधित्व करती है । आधुनिक सभ्यता मुख्यरूपमें भौतिकवादी है, जब कि हमारी सभ्यता प्रधानरूपसे आध्यात्मिक है । आधुनिक सभ्यता भौतिक नियमोंकी खोजमें लगी हुई है और मानवीय प्रतिभाको उत्पादन और विनाशके साधनोंकी खोजमें जुटाये हुए है और हमारी सभ्यता मुख्यरूपसे आध्यात्मिक नियमोंकी खोजमें लगी हुई है । हमारे शास्त्रोंमें स्पष्ट यह कहा गया है कि सत्य-जीवनके लिये सत्यका ठीक-ठीक पालन, पवित्र आचरण, प्रत्येक जीवके प्रति अहिंसाकी भावना, किसी औरके धनकी इच्छा न रखना और दैनिक जीवनके लिये जो आवश्यक है, केवल उसीका संचय नितान्त आवश्यक बातें हैं । उन्होंने यह भी कहा है कि इन बातोंके बिना आत्मतत्त्वका ज्ञान असम्भव है । हमारी सभ्यताने दृढ़तापूर्वक यह कहनेका साहस किया है कि अहिंसाका समुचित और सम्पूर्ण विकास सारे संसारको हमारे चरणोंमें लाकर डाल देता है । सक्रियरूपमें अहिंसाका अर्थ है—पवित्रतम प्रेम और करुणा । इस वचनका उच्चारण करनेवाले महापुरुषने अनन्त उदाहरण देकर इसे प्रमाणित कर दिया है ।—महात्मा गांधी

'भगवन् !'

(रचयिता—पो० श्रीकण्ठमणिजी शास्त्री 'देशिकेन्द्र')

कर्णकुहरोंसे सुन पावन तुम्हारी कथा,
माधव ! अमन्द प्रीति-रीति बढ़ जाती है ।
नेत्रोंसे निहारते ही रुचिर तुम्हारा रूप,
भावासक्ति अञ्जसा दुरन्त जुड़ जाती है ।
'देशिकेन्द्र' वैजयन्ती-वृन्दाका अमन्द गन्ध
व्यसन दशाकी परिपाटी पढ़ जाती है ।
कैसे भवता-वितीर्ण देहसे विराग करें,
भव तरनेको मिली जब यह थाती है ॥

सकल पुमर्थमें समर्थ दानशौण्ड ! तव—
अभिमुख होते, मति-गति रहती ही नहीं ।
कौन कौन कामनाएँ याचक विशेष करें ?
सपदि अभाव-अनुभूति रहती ही नहीं ।
'देशिकेन्द्र' आपकी स्वरूप-माधुरीके बाद—
अन्यकी दिदृक्षा चित्त-वृत्ति रहती ही नहीं ।
चरण-सरोजका पराग मधु पीने बाद—
इतर रसोंकी स्पृहा-स्मृति रहती ही नहीं ॥

लालसा नहीं है चन्द्र-चन्द्रिका समान यश—
फैले, ऋद्धि सिद्धिका अबाध विनियोग हो ।
कामना नहीं है कान्तकाया कामिनीकी छोड़,
कैवल्यानुभूतिका अतर्कित सुयोग हो ।
'देशिकेन्द्र, जिनको असत्य कहते हैं विज्ञ,
उन विषयेन्द्रियोंका सरस प्रयोग हो ।
आपकी स्वरूप-माधुरीका रस पीते हुए
जीते हुए बार-बार जीवनोपयोग हो ॥

वह्नि-विस्फुलिङ्गोंके समान कोटि कोटि जीव*
व्युच्चरित होते योग्य भोग्य तनु धार-धार ।
विमुख तुम्हारे कुछ मायासे विमुह्यमान
कालके प्रवाहमें[1] समुह्यमान बार-बार ।
'देशिकेन्द्र' आत्मोद्धार-पथ-अनुगामी कुछ—
वेदोदित मुक्ति पाते मर्यादानुसार[2] सार ।
साधनविहीन कुछ चरणसरोज-लोभी[3]
ढूँढते पराग मधु साधु-संग द्वार-द्वार ॥

'पाहि परिपाहि नाथ ! शरण तुम्हारी पड़ा'—
ऐसी करुणा-पुकार ज्यों ही सुन पाते हौ ।
विपद विदारनेको भक्तको निहारनेको
तत्क्षण उबारनेको दौड़-दौड़ आते हौ ।
'देशिकेन्द्र' वाहन कहाँ है ? पद-पादुकाएँ ?
आयुध कहाँ है ? पट उड़ता न पाते हौ ?
केवल दया ही दया द्रवित तुम्हारा रूप—
होता है दयालो ! दया-पात्र बन जाते हौ ॥

---

* यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति । (उपनिषद्)

१ प्रवाह, २ मर्यादा और ३ पुष्टिमार्गीय जीव ।

मेरे पाँच भय

(लेखक—बाबू श्री श्रीप्रकाशजी)

ढाई हजार वर्ष हुए जब भगवान् बुद्धने मानव-जातिको सदाचार और नैतिक उत्थानकी शिक्षा देते हुए पञ्चशीलका प्रवर्तन किया था। दस वर्ष पूर्व जब 'चीनी-हिंदी भाई-भाई'के नारे देशमें लग रहे थे, तब अन्ताराष्ट्रीय शान्तिके उद्देश्यसे पञ्चशीलके नामसे पाँच सिद्धान्तोंकी घोषणा की गयी थी। आज मैं अपने 'पञ्च भय'के प्रदर्शनकी धृष्टता कर रहा हूँ। मेरे मस्तिष्क और मेरे हृदयको ये कुछ दिनोंसे व्याकुल कर रहे हैं।

जब मैं अपने चारों तरफके दृश्यको देखता हूँ, जब उन घटनाओंपर ध्यान देता हूँ जो दिन-प्रतिदिन घटित हो रही हैं, तब मेरा हृदय भविष्यके लिये चिन्तित हो उठता है और मैं अपने विचारों और भावोंको स्पष्ट भाषामें व्यक्त करना अपना कर्तव्य समझता हूँ। स्वराज्यके आरम्भमें ही मुझे विशेष उच्च पदपर स्थापित किया गया था। तबसे पंद्रह वर्षोंतक किसी-न-किसी पदपर रहा। विगत छः वर्षोंसे मैं साधारण नागरिक और कर-दाताका ही रूप रखता हूँ। अवश्य ही, ऐसी दशामें वास्तविकतासे अधिक सम्पर्क रहता है और ऐसे अनुभव होते हैं जो कि उच्च पदपर रहते हुए नहीं होते; क्योंकि उस समय अपने बहुतसे सहायक रहते हैं, जो अपना जीवन सरल और सुखकर बना देते हैं।

आज मैं ७८ वर्षका हुआ। मैं अच्छी तरह अनुभव करता हूँ कि इस वृद्धावस्थामें जिस प्रकार शरीर शिथिल हो जाता है, उसी प्रकार मस्तिष्क भी संकीर्ण हो जाता है। यह संसार नवयुवकों और नव-युवतियोंके लिये है—वृद्धोंके लिये नहीं। वृद्धोंको तो यही विचारकर संतुष्ट रहना चाहिये कि हमने यथाशक्ति, यथाबुद्धि अपने समय अपने कर्तव्योंका पालन कर दिया। अब तो युवकगण ही संसार और समाजका संचालन करेंगे और अवश्य ही जैसा उचित समझेंगे, वैसा ही करेंगे।

आज मुझे हिंदीके प्रसिद्ध उपन्यास-लेखक श्रीप्रेमचन्द्र-के 'गोदान' के शब्द याद आते हैं, जहाँ उन्होंने कहा है—'वृद्धोंके लिये अतीतके सुखों, वर्तमानके दुःखों और भविष्यके सर्वनाशसे ज्यादा मनोरंजक और कोई प्रसंग नहीं होता।' यह बात इतनी सत्य है कि मुझे अपने मनके भावोंको प्रकट करनेमें अवश्य संकोच होता है। पर मैं समझता हूँ कि मेरे लिये उचित होगा कि सार्वजनिक रूपसे मैं उन बातोंको कह दूँ जो कि मेरे मनमें उठ रही हैं। मैं यही आशा कर सकता हूँ कि यदि मैं कोई अनुचित और असंगत बातें कह रहा हूँ तो मुझे क्षमा किया जायगा।

पहला भय

मेरा प्रथम भय यह है कि दस वर्षोंके भीतर-भीतर देश पंद्रह अथवा इससे भी अधिक छोटे, दुर्बल, दरिद्र, स्वतन्त्र राज्योंमें विभक्त हो जायगा। विभाजनके आधार भाषागत अथवा साम्प्रदायिक भाव हो सकते हैं। जब हमने स्वेच्छासे देशका विभाजन साम्प्रदायिक आधारपर मान लिया तो हम इस विषको फैलनेसे कैसे रोक सकते हैं? भले ही हमने कहनेको अपनेको भौतिक अथवा लौकिक राष्ट्रका रूप दिया हो, पर हम देखते हैं कि नाना प्रकारके साम्प्रदायिक और जातिगत आन्दोलन भिन्न-भिन्न प्रदेशोंमें हो रहे हैं, जिससे कि भावी दुःखदायी सम्भावनाओं-के चिह्न स्पष्टरूपसे देख पड़ रहे हैं।

हम देखते हैं कि हमने गल्लाके वितरणके लिये मण्डल स्थापित किया है। जिन राज्योंमें पर्याप्त सामग्री है, वे भी अपना अतिरिक्त गल्ला दूसरे ऐसे राज्योंको नहीं जाने देते, जहाँ इसकी कमी है। नदीके पानीके लिये और सीमाओंपर छोटे-छोटे भूमिके अंचलोंके लिये देशके अन्तर्गत पड़ोसी-राज्योंमें भयंकर संघर्ष हो रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि वे अपनेको परस्पर विदेश मानते हैं और एक ही देशका नहीं समझते। भिन्न-भिन्न राज्योंमें विविध प्रकारकी 'सेनाओं' का निर्माण हुआ है जो कि बलप्रयोग कर ऐसे लोगोंको बाहर निकाल रही हैं, जो कि दूसरे राज्योंसे आकर वहाँपर बस गये हैं!

हमने अपने संविधानमें भाषाके आधारपर राज्योंका पृथक्-पृथक् संघटन स्वीकार कर लिया है। दक्षिणका एक राज्य केन्द्रकी आज्ञाओंकी अवहेलना कर रहा है। दूसरेने उत्तरके विरुद्ध संग्राम-सा ही छेड़ दिया है। इस सबसे स्पष्ट है कि हमारा यह भय निर्मूल नहीं है कि थोड़े ही दिनोंमें देश पर्याप्त संख्यामें स्वतन्त्र खण्डोंमें विभक्त हो जायगा।

अपने देशकी अनन्त कालसे चली आयी ऐतिहासिक परम्पराओंकी पुनरावृत्ति होगी। हम चाहते हैं कि यह फिर न होने पावे। अंग्रेजोंके समय देश जैसा एक हुआ, वैसा सदाके लिये बना रहे। परंतु मनुष्यकी प्रकृति मनुष्यके आदर्शोंसे अधिक बलवान् होती है। भगवान् श्रीकृष्णने भगवद्गीतामें कहा है—'प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति'—प्रकृतिके ही हम सब अधीन हैं। वह हमें ढकेलती रहती है। उसके सामने हम विवश हो जाते हैं।

दूसरा भय

मेरा दूसरा भय यह है कि हमारे देशमें सैनिक अनन्याधिकार भी हो सकता है। हमें स्वराज्य प्राप्त किये हुए बीस वर्ष हो गये। देशकी शान्ति एवं सुव्यवस्थाका प्रबन्ध संतोषजनक नहीं है। अंग्रेजोंके समय जनसमुदायोंपर जितनी बार गोली चली थी, उससे कहीं अधिक स्वराज्यमें चली। सारे देशमें सभी समय हर प्रकारके हड़ताल, तालाबंदी, उपद्रव आदि होते देख पड़ रहे हैं। अवश्य ही जैसा कि भूतपूर्व अंग्रेज प्रधान मन्त्री हेनरी कैम्पबेलबैनर मैन कह गये हैं कि कुशासन जनसाधारणके हाथसे आत्मशासनका स्थान नहीं ले सकता। पर इसमें भी कोई संदेह नहीं है कि जब विदेशी अथवा एकाधिकारी शासन समाप्त कर स्वशासन अथवा लोकतन्त्रात्मक शासन स्थापित हो जाता है, तब जनसाधारण सुशासनकी भी अभिलाषा रखता है और यदि कोई शासन शान्ति और सुव्यवस्था नहीं रख सकता या अनाचारी या अकुशल हो जाता है तो लोग उससे दुःखित होकर उसके विरोधी हो जाते हैं। स्मरण रहे कि क्रान्तियाँ केवल विदेशी शासनोंके विरुद्ध नहीं होतीं। फ्रान्स और रूसकी क्रान्तियाँ अपने ही देशी शासनोंके विरुद्ध हुई थीं।

अव्यवस्थासे त्रस्त होकर आवश्यकतानुसार लोग सैनिक एकाधिकारको भी स्वीकार कर लेते हैं। हम देख रहे हैं कि मिस्रसे लेकर इण्डोनेशिया तक एकके बाद एक पूर्वीय देश ऐसे शासनके अधीन होता चला जा रहा है। मैं यह मानता हूँ कि ऐसा शासन तभी सम्भव होता है, जब देशकी सारी सेनाएँ किसी एक सेनापतिके प्रति श्रद्धा और भक्ति रखती हों और उसमें पूर्णरूपसे विश्वास करके वे उनके आज्ञापालनके लिये प्रस्तुत हों। हमारी सेनाओंका जिस प्रकारका संघटन है, उसमें ऐसी स्थितिका होना बहुत कठिन प्रतीत होता है, पर इसकी सम्भावना है यदि वर्तमान आन्तरिक स्थिति चलती रहे। दिल्लीके हमारे शासकगण और प्रदेशोंकी राजधानियोंमें अधिकारपर बैठे हुए लोग इसे चाहे न जानें या मानें, पर जितना असंतोष सरकारी लोगोंके अनाचार, भ्रष्टाचार, अशिष्ट और अनुचित व्यवहारके कारण फैला हुआ है, उसकी उपेक्षा करना भयावह होगा।

तीसरा भय

मेरा तीसरा भय यह है कि हमारे ऊपर विदेशी आक्रमण भी हो सकता है। हमारी 'निरपेक्षताकी नीति'के कारण संसारमें हमारा कोई मित्र नहीं है। जब हम किसीके मित्र नहीं हैं तो दूसरा कोई भी हमारा मित्र नहीं है। चीन और पाकिस्तानका जब हमारे ऊपर आक्रमण हुआ, तब हमें इसका प्रमाण मिल गया। जहाँतक मैं देख सकता हूँ पाकिस्तानकी कूटनीति हमारी कूटनीतिसे कहीं अधिक सफल हुई है। अमेरिका, रूस और चीन-ऐसे परस्पर-विरोधी भावों और आदर्शोंसे प्रेरित देशोंसे उन्होंने मित्रता स्थापित कर ली है। यह तो शासकोंकी तरफसे भी माना गया है कि चीन और पाकिस्तानके निकट मैत्रीके कारण हमें भय लगा हुआ है। ऐसी अवस्थामें यदि मैं दुःखके साथ यह कहूँ कि विदेशी आक्रमणका मेरा तीसरा भय निर्मूल नहीं है तो अनुचित नहीं होगा।

चौथा भय

मुझे अपने चौथे भयको प्रकट करते हुए विशेष रूपसे कष्ट और असमंजस हो रहा है। विवश होकर मुझे यह कहना पड़ता है कि मुझे यह भय है कि एक शताब्दीमें जिस मानव-व्यवस्थाको हम हिंदू-धर्मके नामसे जानते हैं, वह लुप्त हो जायगा। उसके साथ-साथ हमारी पुरातन परम्परागत संस्कृति, जीवनक्रम, विचारशैली सब गायब हो जायगी। मैं हिंदूके नाते यह नहीं कह रहा हूँ। तुलनात्मक दृष्टिसे सम्प्रदायों, दर्शनों और विचारवानोंके मतोंके अध्येताके रूपसे मैं यह कहना चाहता हूँ कि पुरातन मिस्र और यूनानकी संस्कृतियोंके लुप्त होनेसे मानवजातिकी जितनी हानि नहीं हुई, उससे कहीं अधिक हानि हिंदू-नामसे प्रचलित संस्कृतिके लुप्त होनेसे होगी।

अवश्य ही कुछ लोग ऐसा कहेंगे कि जब यह धर्म पाँच हजार वर्षोंतक बचा रहा और समयकी गतिसे जो कुछ भी

इसमें दोष और त्रुटियाँ आती रहीं, उन्हें यह सम्हालता रहा तो यह सम्भव नहीं हो सकता कि आगेके एक सौ वर्षमें यह नष्ट हो जायगा। यह भूलना नहीं चाहिये कि जिन हजारों वर्षोंसे हम चले आ रहे हैं, जिनमें कि हमारे ऊपर बार-बार आक्रमण हुए हैं और हमें विदेशी शासनोंके अन्तर्गत रहना पड़ा है, उनमें हमारे मनमें एक बड़ी बलवती प्रतिक्रिया सदा होती रही है। हम यह समझते रहे हैं कि यद्यपि शारीरिक दृष्टिसे हम दुर्बल हैं जिसके कारण हम अधीन हो गये हैं पर वास्तवमें हम महान् हैं। गूढ़-से-गूढ़ दर्शनों, सुन्दर-से-सुन्दर आदर्शों, बड़ी-से-बड़ी कृतियोंके हम उत्तराधिकारी हैं। यद्यपि हमारे शरीर दासताकी जंजीरमें बँधे थे। हमने अपने मस्तिष्कको किसीके अधीन नहीं होने दिया। अपनी आध्यात्मिक स्वतन्त्रताका हमने समर्पण किसीके सामने कभी भी नहीं किया।

आज हम राजनीतिक दृष्टिसे स्वतन्त्र हैं। पर मैं देखता हूँ कि हमारे ऊपर कभी भी विदेशोंके उतने प्रभाव नहीं पड़े थे, जितने आज पड़ रहे हैं। मुझे ७० वर्षकी स्मृतियाँ हैं। मुझे स्मरण आता है कि मेरे पिताकी पीढ़ीके लोग अंग्रेजी भाषाका अध्ययन बड़ी सावधानीसे करते थे, वे कितने ही अंग्रेजोंसे अंग्रेजी भाषापर अधिक अधिकार रखते थे। उस समयके शिक्षित लोग यूरोपीय साहित्य, दर्शन, इतिहास, विज्ञान और विचार-शैलीसे निकटरूपसे परिचित रहते थे। पर उनका व्यक्तिगत, कौटुम्बिक और सामाजिक जीवन पूर्णरूपसे परम्परागत हिंदू-प्रथाके ही अनुकूल होता था। वे सदा प्रयत्न करते थे कि हमारा पुरातन विचार जीवित रहे। वे शिक्षा-संस्थाओंकी स्थापना करते थे, जिसमें बालक-बालिकाएँ अपने धर्मकी शिक्षा पावें और अपने पूर्वजोंका गर्व करें। यही लोग थे जिन्होंने उस पीढ़ीको जन्म दिया, जिसने स्वतन्त्रताके लिये संग्राम किया। ये उन्हीं पूर्वजोंसे प्रेरित हुए और उन्हीं विचारोंसे प्रभावित थे जो वे छोड़ गये थे।

महात्मा गांधी, जिनको हम राष्ट्रपिताके नामसे सम्मान करते हैं, स्वराज्यके लिये संघर्ष करते हुए वास्तवमें यही चाहते थे कि देश अपनेको पहचाने। मेरे पिता डाक्टर भगवानदास बार-बार यह कहते थे कि स्वतन्त्रताके लिये लड़ते हुए हम अपनी खोयी हुई आत्माकी पुनःप्राप्तिके लिये लड़ रहे हैं। स्वराज्यमें हमने अपनेको भौतिक अथवा लौकिक राज्य घोषित किया है और सार्वजनिक संस्थाओंसे 'धर्मकी शिक्षा'का देना मना कर दिया है।

व्यवहाररूपमें ऐसा देख पड़ता है कि लौकिकताका अर्थ है—'हिंदूधर्मका निष्कासन।' जहाँतक मुझे मालूम है ईसाई अथवा इस्लामधर्मके अनुयायी अपने घरोंमें धार्मिक वातावरणको बनाये रखते हैं। उनके बच्चोंको अपनी धार्मिक पुस्तकोंका अध्ययन कराया जाता है। वे अपने धार्मिक संस्कारों और उत्सवोंको मानते हैं। हिंदू इस सबके बिल्कुल विरुद्ध हो गया। शायद ही कोई हिंदू घर ऐसा हो, जहाँ २४ घण्टेमें किसी भी समय सब कुटुम्बीजन एकत्र होकर किसी धार्मिक कृत्यमें भाग लेते हैं। अथवा सामूहिकरूपसे प्रार्थना करते हैं।

यद्यपि अंग्रेजी भाषाका ज्ञान दिन-प्रतिदिन कम होता जा रहा है, पर हमारे जीवन और विचारोंमें 'अंग्रेजियत' अधिकाधिक बढ़ती जा रही है। इसे अपने घरोंकी सजावट, अपने भोजन और वस्त्रके प्रकारमें हम देख सकते हैं। पहले हम अपने परम्परागत प्राप्त बौद्धिक सम्पत्तिमें गर्व रखते थे; अपनेको महान् मानते थे। पर हम अब अपनेको अवनत और अर्ध-उन्नतके नामसे घोषित करनेमें बड़ी शान लेते हैं और भिक्षुकोंकी झोली लेकर विदेशियोंके पास जाते हैं। उनसे केवल भोजन ही नहीं माँगते, उनके विचारोंकी भी भिक्षाकी आपेक्षा उनसे करते हैं। हमारी 'मानसिक दासता' पूर्ण हो गयी है और हमें इस बातकी लज्जा नहीं है कि हमारे धर्मकी तरफ हमें पूरी तरहसे उपेक्षा हो गयी है। ऐसी स्थितिमें अवश्य ही उसका लोप हो जायगा।

यह भी हमको देखना है कि हम अपनी गलतियोंसे कुछ सीखते नहीं। आश्चर्यकी बात है कि एक बड़े सुन्दर धर्मके नामपर जो समाजरूपी संघटनका निर्माण हुआ है वह बड़ा ही अवाञ्छनीय है। इसमें करोड़ों लोग दरिद्र और निष्कासित हो रहे हैं। परिणाम यह है कि करीब-करीब एक तिहाई हिंदुओंने अपने धर्मका परिवर्तन कर लिया। जो बचे हैं, उनको इसकी कोई चिन्ता नहीं है। इस कारण वे भी धीरे-धीरे खो जायँगे। हम किसीसे अच्छी बात नहीं सीखते। उनकी बुराइयोंको लेनेके हम सदा तत्पर रहते हैं। हमने मुसल्मानोंसे भ्रातृभावके सुन्दर आदर्शको नहीं लिया। वे इसे अपने प्रतिदिनके जीवनमें

प्रदर्शित करते हैं। बड़े और छोटे, धनी और दरिद्र सब एक ही दस्तरखानपर भोजन कर सकते हैं और एक ही उपासनागृहमें सब प्रकारसे प्रार्थना भी करते हैं। उनसे हमने बहुत-सी खराबियाँ ली हैं, पर कोई अच्छी बात नहीं ली। अंग्रेजोंके भी बहुतसे दोष हममें आ गये। बहुत-सी अवाञ्छनीय प्रथाएँ हमने उनसे ले लीं। पर समयका पालन करना, अपने कर्तव्योंके प्रति दत्तचित्त रहना, उत्तरदायित्वकी भावना रखना, परिश्रम करना आदि ऐसे अन्य गुणोंको हमने उनसे नहीं लिया।

जब हम अपने ही शत्रु हो गये अर्थात् जब शत्रु ही हमारे हृदयों और घरोंमें आ बसा, तो अन्तिम समय दूर नहीं समझा जा सकता। जिसे हम विरोधों और संघर्षोंके बीचमें रहते हुए पाँच हजार वर्षोंसे बचाये हुए थे, उसे हम अपने ही बनाये हुए वर्तमान अवस्थामें सौ वर्षके भीतर खो देंगे। मेरा चतुर्थ भय वास्तवमें निराधार नहीं है।

पाँचवाँ भय

मेरा पाँचवाँ भय, यदि इसे भय कहा जा सकता है, तो यह है कि जब हिंदूधर्म लुप्त हो जायगा तो एशिया और अफ्रिकाके महाद्वीप इस्लाम और कम्यूनवादमें बराबर-बराबर विभक्त हो जायँगे। चाहे लोग कुछ ही क्यों न कहें, इस्लाम वह धर्म है जिसका वास्तवमें पालन उसके अनुयायी करते हैं। वह केवल धर्मशास्त्रोंमें ही सीमित नहीं है। किसी जातिका धर्म संसारमें उसके धार्मिक ग्रन्थोंसे नहीं परखा जा सकता। उसके वास्तविक दिन-प्रतिदिनके जीवनसे जाना जाता है। वेद, उपनिषद् और भगवद्गीताके नामसे हिंदूकी परीक्षा नहीं हो सकती। वह किस प्रकारसे रहता है, किस प्रकारसे संसारमें व्यवहार करता है—उससे उसका धर्म परखा जायगा। एक तिहाई हिंदूलोगोंने दूसरे धर्मका आश्रय लिया। यही इस बातका प्रमाण है कि नर-नारीके रूपमें हिंदूमें कुछ त्रुटि है। उसके धर्ममें अथवा उसके पुरातन पवित्र ग्रन्थोंमें कोई त्रुटि नहीं है।

इस्लाम संसारमें फैल रहा है। स्वराज्यमें भी बहुतसे हिंदू मुसल्मान हो रहे हैं। अफ्रीका और अन्य देशोंमें भी यह तेजीसे फैल रहा है। जब वह व्यवहार्य रूपसे मानवमात्रके भ्रातृत्वका उपदेश देता है और उसके अनुसार आचरण करता है, जब वह मनुष्यकी दिनचर्य्याके सम्बन्धमें सरल नियम निर्धारित करता है, जिसे कि साधारण लोग समझ सकते हैं और जिसके अनुसार वे जीवन निर्वाह कर सकते हैं, तो अवश्य ही उसका विस्तार होगा। वह बड़ा मोहक और आकर्षक है—इसमें कोई संदेह नहीं। इसकी सफलतासे ही इसका प्रमाण मिलता है।

फिर हम कम्यूनवादपर ध्यान दें। पूर्वीय देश दरिद्र हैं। वहाँ करोड़ों स्त्री-पुरुष भूखे हैं। कम्यूनवाद प्रतिज्ञा करता है, और सम्भव है उसके अनुकूल कार्य भी करता है कि उसके अधीन सबको भोजन, वस्त्र और निवासस्थान मिलेगा। अवश्य ही गरीब और दुखी लोगोंके मनको वह आकर्षित करता है। अभागोंके हृदयोंमें वह आशाका संचार करता है, कम्यूनवादको पूर्वी देशोंमें बढ़नेसे रोकनेके लिये अमेरिका हर प्रकारसे प्रयत्नशील है। वियतनाममें उसकी नीतिसे यह सिद्ध होता है। पर इतना अधिकार और प्रभाव रखते हुए भी वह सफल नहीं हो रहा है। जब हिंदू-धर्म भारतसे लुप्त हो जायगा और भारतमें ही वह प्रचलित है और विरोधी शक्तियों तथा प्रभावोंके बीचमें वह एक दीवारकी तरह अबतक खड़ा रहा, तब सारा ही पूर्वी जगत् अर्थात् अफ्रीका और एशिया इस्लाम और कम्यूनवादमें—बँट जायँगे। ऐसा यदि कोई कहे तो कुछ भी आश्चर्यकी बात नहीं है।

रक्षाके उपाय

अवश्य ही मेरे पाठकगण विशेषकर ऐसे लोग, जिनके हृदयमें भी यह भय है जो मेरे हृदयमें है, स्वाभाविक रूपसे यह पूछेंगे कि क्या उपाय है जिससे हम इन भयोंसे बच सकते हैं और उन सम्भावनाओंका निवारण कर सकते हैं जो आगे देख पड़ रही हैं। मेरे लिये उचित है कि मैं इस प्रश्नका सामना करूँ और थोड़ेमें अपनी बुद्धिके अनुसार इसका उत्तर दूँ।

देशके खण्ड-खण्डमें विभक्त हो जानेका जो मेरा पहला भय है वह तो तब दूर हो सकता है, जब हम अपने देशके सब बालक-बालिकाओं, स्त्री-पुरुषोंको सच्ची देशभक्तिकी शिक्षा दे सकें। यह शिक्षा सदा और हर प्रकारसे देनी होगी। समाचारपत्र, सिनेमा, रेडियो, भाषण, पाठशाला, विद्यालय, विश्वविद्यालय सभीके द्वारा यह सब काम करना होगा, जिससे सब समय यह सिखलाया जाय कि जो हमारा देश है, जो उसका रूप और विस्तार है, उसकी एक प्रतिभा हमारे हृदयोंमें अङ्कित रहे। वह सब भूखण्ड

'एक देश' है। वह हमारी उपासनाके सर्वथा योग्य है और उसके लिये हर प्रकारका त्याग करनेके लिये हमें सदा उद्यत रहना चाहिये। इसी सच्ची देशभक्तिकी शिक्षा हमें मिलनी चाहिये। इसीके द्वारा हम देशको खण्ड-खण्ड टूटनेके भयका निवारण कर सकते हैं।

सैनिक एकाधिकारका जो मेरा दूसरा भय है, उसका निराकरण तो लोकतन्त्रात्मक भावनाओंका सबके मस्तिष्कोंमें संचार करनेसे हो सकता है। जब हम सब सच्चे लोकतन्त्री हो जायँगे, तभी हम किसीके भी अनन्याधिकारसे अपनी रक्षा कर सकेंगे। यदि यह गुण हममें आ जाय तो हम अपने मतोंका प्रयोग समुचित रूपसे करेंगे और हम अपने उत्तमोत्तम और योग्यतम नर-नारियोंको नियोजित और निर्वाचित करेंगे और उन्हें ही अधिकार और शासनके पदोंपर रखेंगे, जिससे कि जनसाधारणको 'स्वशासन' और 'सुशासन' दोनों ही मिलें और सब लोग अपने कर्तव्योंको अच्छी तरह समझकर उनका पालन करें।

हमारे तीसरे भय अर्थात् विदेशी आक्रमणसे हमारी रक्षा तभी हो सकती है, जब हम सबको यह ठीक प्रकारसे समझाया जाय कि आधुनिक युद्ध केवल सीमाओंपर ही नहीं लड़े जाते, पर प्रत्येक नगर और गाँव, यहाँतक कि प्रत्येक घरमें उनकी आँच पहुँचती है। बम रण-क्षेत्रोंमें ही नहीं गिरते, शान्तिमय सड़कों और खेतोंमें भी वे गिरते हैं। सारे जनसमूहको भी हमें सिखाना होगा कि जब कोई खतरा आवे तो उसका कैसे सामना किया जा सकता है। जब उन्हें इसकी शिक्षा मिलेगी, तब वे शत्रुको कहीं भी आने नहीं देंगे।

पाठकोंको स्मरण होगा कि जब विगत महायुद्धमें इंगलैंडपर जर्मनीके आक्रमणकी तैयारी थी, उस समय अंग्रेज प्रधान मन्त्री विन्स्टन चर्चिलने कहा था कि 'वे शत्रुको कभी भी नहीं आने देंगे। वे उससे हर नगरमें लड़ेंगे, हर सड़कपर लड़ेंगे, हर घरमें लड़ेंगे, सीढ़ियोंके हर डंडेपर लड़ेंगे।' जब ऐसी भावना होती है तो कोई भी आक्रमणकारी किन्हीं देशवासीको हानि नहीं पहुँचा सकता। यदि हमें अपनेको सुरक्षित रखना है तो हमें यह सबक सीखना होगा।

मेरा चौथा भय जो यह है कि जिसे हम हिंदू आचार-विचार, हिंदू सभ्यता और संस्कृति कहते हैं, वह ह्रास हो जायगी, उससे यदि हिंदूजन बचना चाहें तो उन्हें मियाँमिट्ठू बने नहीं रहना चाहिये। ऐसा नहीं समझना चाहिये कि जो स्थिति है वह सब ठीक है। ऐसा संतोष भयावह है। उन्हें वास्तविकताका सामना करना चाहिये। उनके लिये उचित है कि वे अपने सम्पूर्ण धार्मिक ढाँचेका सुधार करें और अपने सामाजिक-संगठनको नया रूप दें। उनको चाहिये कि इस्लामसे वह व्यावहारिक मानवीय भ्रातृभाव सीखें और ईसाईमतसे सुव्यवस्थित परोपकार और दानशीलताकी प्रथाको अपनायें।

हिंदुओंके लिये उचित है कि अपने भाइयोंका निष्कासन करना बंद करें और किसीको नीच और दलित न मानें। जो लोग शरीरसे विकृत हैं—लँगड़े, लूले, अंधे हैं, जो कोढ़ आदि रोगोंसे ग्रस्त हैं, उन सबकी फिकर होनी चाहिये। जिस प्रकारसे हम उनकी उपेक्षा करते हैं, उसी कारण वे दूसरे धर्मोंका आश्रय ले लेते हैं, जहाँ उन्हें शारीरिक और आध्यात्मिक सहायता और सान्त्वना मिलती है। यह ठीक है कि शासनकी तरफसे भौतिकवादका नारा लगाया गया है। सार्वजनिक सरकारी संस्थाओंमें धार्मिक शिक्षाकी मनाही हो गयी है, पर इसके कारण यदि कोई अपनी संततियोंको धार्मिक शिक्षा दे तो वह दण्डित नहीं हो सकता। शासनको जो कुछ धन मिलता है, हमीं करदाताओंसे ही मिलता है। कहीं बाहरसे नहीं आता। अवश्य ही हम जो शासनको इतना अत्यधिक धन देते रहते हैं, वे थोड़ा आपसमें एकत्रकर ऐसी पाठशालाएँ और विद्यालय अवश्य स्थापित कर सकते हैं, जहाँ धार्मिक शिक्षा दी जाय। हाँ, हमें शासनसे कोई आर्थिक सहायता नहीं माँगनी होगी। यहाँपर हम अपने विचारानुसार शिक्षा-दीक्षा दे सकेंगे।

अपने पूर्वजों और पूर्वकालकी कृतियोंमें हमें फिर अभिमान करना होगा। हमारे लिये उचित नहीं है कि हम इस प्रकारसे अपनेको दीन-हीन बनावें और अपनेको अवनत और अर्द्ध उन्नत देश बतलावें। हमें अपनेमें आत्म-विश्वास पैदा करना है। हाँ, जो इधर मनुष्योंने आविष्कार किया है जिससे कि उनके जीवन और कार्यमें उन्नति हो, उनसे अवश्य ही हमें भी लाभ उठाना होगा। हम अपनी परम्पराको पकड़े हुए दूसरोंसे भी अच्छी बात ले सकते हैं। इस प्रकार हम अपनी रक्षा करेंगे और अपने पुरातन धर्मकी भी रक्षा कर सकेंगे।

जो हमारा पाँचवाँ भय है अर्थात् अफ्रीका और एशियाके भूखण्ड इस्लाम और कम्यूनवादमें बँट जायँगे, उससे बचनेका उपाय तो हमने ऊपर बतलाया है । उसकी पुनरावृत्ति करना व्यर्थ है । यदि हम पूर्वीय लोग अधिक संख्यामें दरिद्र बने रहेंगे और हममेंसे थोड़े ही लोग अत्यधिक धनी होते हुए ऐश-आराममें रहेंगे तो अवश्य ही कम्यूनवादका प्रसार होगा; क्योंकि इसका यह दावा है कि मनुष्य-मनुष्यके बीचमें जो अत्यधिक अन्तर है, उसे वह मिटावेगा और सबको लौकिक स्तरमें समानता प्रदान करेगा । हमारे समाजमें दरिद्र और धनीके बीचमें बहुत अन्तर है । सारे देश और जातिके हितमें इसको दूर करना अत्यन्त आवश्यक है ।

हिंदुओंका पुराना आदर्श बहुत ही अच्छा था अर्थात् बाह्य दृष्टिसे सबका ही जीवन सादा और सरल होना चाहिये । चाहे कोई कितना ही विद्वान् हो, बलवान् हो, अथवा धनवान् हो, इससे सभी लोग बराबरके स्तरपर आ जाते हैं और परस्परका द्वेषभाव दूर होता है । यदि हम इस आदर्शका पुनरुद्धार कर सकें, तब हम अपने लोगोंको कम्यूनवादी बननेसे बचा सकेंगे । अगर इस्लामकी ऊँची बातें ग्रहण करें और उन्हें हम अपने जीवनका अङ्ग बना लें तो हम हिंदूधर्मको लुप्त होनेसे बचा सकेंगे और वह भी जीवित रहकर संसारके विचारशैलियों और कार्य-प्रणालियोंके विकासमें योगदान कर सकेगा, जैसा करनेकी वह क्षमता रखता है, जिससे मानवमात्रका कल्याण हो सकेगा ।

अभिशप्त सभ्यता

(लेखक—श्रीगोविन्दजी शास्त्री)

आज जिस युगमें जी रहे हैं, वह पूर्ण प्रगति और विकासका प्रतीक माना जाता है । यद्यपि प्रगति एक नेमि-चक्र है, जिसका प्रत्येक अथ इति होता है और इति अथ होता है । फिर भी यह एक विश्वास है, ऐसा विश्वास जिसने आजतककी समग्र आस्थाओंको झुठला दिया है । प्रगतिशीलताका दम्भ भरनेवाले विगतके ऐश्वर्यको स्वीकार करनेके लिये ही तैयार नहीं हैं । उनका यह युग अपने आपको अभूतपूर्व मानता है और यह इसका अन्धविश्वास है । जिस सनातन सभ्यताको हम तिरस्कृत कर चुके हैं, जिन नैतिक मूल्योंको हम यथार्थ और व्यक्ति-स्वातन्त्र्यपर कसकर खोटा मान चुके हैं, उसके परिणाम भी हम भोग रहे हैं । वस्तुतः हम अस्तित्वमें नहीं, अनस्तित्वमें जी रहे हैं । विधिके लिये नहीं, निषेधके लिये युक्तियाँ और तर्क ढूँढ़ रहे हैं ।

भारतीय आर्ष सत्योंको उपेक्षित करके हमने क्या पाया ? अतीतको मृत समझकर हमने वर्तमानको कहाँ सजाया ? भौतिकवादी (निरीश्वरवादी) सभ्यताने हमें कहा—'तुम पहले कुछ भी रहे हो पर आज क्या हो ?' हमने निरुत्तर होकर मान लिया कि 'वास्तवमें हम आज कुछ भी नहीं हैं ।' जिसने हमसे प्रश्न किया था हमने उसीकी महत्ता स्वीकार कर ली और हमारे विगतको गिरवी रख दिया । एक समय था, जब विवाहके समय वंश-परम्पराको, पूर्वजोंके नामको पूछा जाता था, आज लड़के-को देखा जाता है, अर्थात् व्यक्तिका वर्तमान मूल्यवान् है, वंशकी परम्पराएँ क्षीण हो गयीं । अतीत अर्थहीन हो गया ! यह प्रवृत्ति उसी यथार्थवादी बाह्य दृष्टि-कोणने दी है ।

एक दूसरा उदाहरण है—हमारे युगकी वेशभूषाका । धोती उतारकर पैंट पहन लिया और वह पैंट भी ऐसा कि जिसमें घुसनेका ही आश्चर्य होता, फिर उसे यह कहकर पहना कि यह 'स्मार्ट' है, इससे शरीरमें फुर्ती रहती है । यह सुनकर ऐसा लगा, जैसे फुर्तीका शरीरसे नहीं, तंग कपड़ोंसे सम्बन्ध है । इस चुस्त वेश-भूषाका दर्शन किसीने नहीं समझा । यह चुस्ती व्यक्तिगत स्वतन्त्रताके हिमायती जगत्ने दी है, यह तंगी अणु-विखण्डनकारी सभ्यताने दी है, जिसका अर्थ होता है कि व्यक्ति विखण्डित होता जा रहा है, संकीर्ण होता जा रहा है । उसमें विश्व-भावनाके स्थान-पर व्यक्तिभावना उग्र होती जा रही है । उसका 'स्व' केवल 'एक'तक सीमित होता जा रहा है । उसमें किसीके समानेका अवकाश ही नहीं है । कुछ दिन पहले एक औद्योगिक नगरमें जानेका अवसर आ गया था । औद्योगिक

नगर वास्तवमें अपने ढंगके ही होते हैं। क्षेत्रोंमें बँटे हुए, एकसे आकारके और सुविधाजनक। स्पष्ट है कि व्यक्तिको यान्त्रिक जडताने डस लिया है। जैसी एकरूप मशीनोंसे वह रोजी कमाता है, वैसी ही एकरूपता उसकी निवास-व्यवस्थामें भी आ गयी। मेरे-जैसा अपरिचित आदमी, जिसे मकानके नंबरतक याद न हों, वह तो उस चक्रव्यूहमें एक गतिशील प्रश्न बनकर रह जाय और हुआ भी यही। चिलचिलाती धूपमें चार घंटेतक इधर-उधर घूमकर वापस आ गया। कई द्वार खटखटाये, पर किसीने तो अपरिचित समझकर बिना कुछ पूछे ही दुत्कार दिया और किसीने द्वार खोलकर मेरे प्रत्येक प्रश्नका उत्तर नकारमें दिया। प्याससे गला सूख रहा था, पर उस सभ्यताको देखकर साहस ही नहीं हुआ कि पानीके लिये किसीसे कह दूँ। कम-से-कम बीस द्वार खटखटाये होंगे, पर किसी भी मुखपर सहानुभूति, प्रेम अथवा उदारता नहीं मिली। नल बंद थे। होटलोंमें चाय पीनेवालोंको ही पानी पिलाया जाता है? फिर जिसने चाय पीना सीखा ही नहीं हो, उसे पानी कौन पिलाये! इस चार घंटेकी तपस्याके बाद चौराहेपर आया और मेरा मन रो उठा। इस यन्त्रयुगमें मानवका ही लोप होता जा रहा है। औद्योगीकरणमें मानवकी सहज सुकुमारता ही कहीं विलीन हो गयी है। घूम-फिरकर वही निराशा मनमें व्याप जाती है, मेरा मन चीत्कार कर उठता है—यही है व्यक्ति-स्वातन्त्र्य? यही है—जड सभ्यता? यही है—विकास?

मान लिया मैं इस युगमें रहकर भी इसकी आलोचना करता हूँ। यथार्थवाद कहता है—आलोचनासे कोई काम नहीं होता, उससे निर्माण नहीं होता। ठीक है, आलोचना व्यर्थ होती है, पर वह युगके कालुष्यको धोती है, शिवेतरकी क्षति करती है और जीवनकी धाराको निष्कलुष बनाती है। आज अतीतको जीवित नहीं किया जा सकता, पर उसके सौन्दर्यका तो अनुभव किया जा सकता है, उसकी गुण-सम्पन्नताको तो जीवनका व्यवहार बनाया जा सकता है। आलोचना यदि किसीकी विगर्हणमात्र करके रह जाती है तो वह आलोचना नहीं होती, उससे कोई लाभ नहीं होता। परंतु वह यदि किसी सुन्दरकी ओर संकेत करती है, स्पष्ट और सम्पूर्णकी ओर अङ्गुल्यानिर्देश करती है तो वह बहुत बड़े कामकी होती है। ऐसी आलोचनासे समाजका निर्माण होता है, शिवत्वकी प्रतिष्ठा होती है।

भौतिकवादका सबसे बड़ा दुराग्रह यह है कि वह प्रत्येक बातको बाहरसे परखता है। बाह्य तीन आयामोंसे आगे वह सोच ही नहीं सकता। इसीलिये भारतीय आत्मवाद उसके लिये अविश्वसनीय है। अध्यात्म उसके लिये अर्थहीन है। वह किसीमें प्राण-प्रतिष्ठा करना नहीं जानता और करना नहीं चाहता। जिस देशने पत्थर, मिट्टी और धातुमें ईश्वरको प्रतिष्ठित करना सीखा, एक जड प्रतीकमें चेतनताका आरोपण किया, मौन प्रतिमामें आत्मदर्शन किया, वह देश पिछड़ा पड़ गया, असभ्य और अन्धविश्वासोंका घर बन गया! जड सभ्यताने हमें जो कुछ भी समझा सो समझा, पर उनकी समझके हम भी कायल हो गये—यही दुःखका विषय है! व्यक्तिकी स्वतन्त्र सत्ताकी पूजा करनेवाली सभ्यताको गलेका हार समझकर पहननेवाले हमने ही व्यक्तिके अस्तित्वको क्षीण कर दिया और पराधीन जीवन जीने लगे। अब इसे कौन समझाये कि हमारे सामाजिक जीवनमें कितना सामञ्जस्य था, कितनी आत्मीयता थी। व्यक्ति समाजके सिद्धान्तोंसे बँधकर कितना सुखी था, उसमें कितनी निश्छलता थी। उस जड सभ्यताके कवि और कलाकारके मनसे कोई पूछकर तो देखे कि वे इस भौतिक सभ्यतासे कितने प्रसन्न हैं? मैंने कई अंग्रेजी कवियोंके पद्य पढ़े और मुझे ऐसा लगा—जैसे उनकी आत्मा सिसक रही है। वे गीत नहीं, शोकगीत हैं; पर उनके गीतोंको केवल इसलिये पढ़ा जाता है कि वे प्रतिनिधि कवि थे। उनके शब्दोंकी आत्माको नहीं टटोला जाता, बल्कि पढ़कर रख दिया जाता है और परीक्षा पास कर ली जाती है। उन कवियोंको यदि आज जीवित रहनेका मौका मिलता और वे अपने काव्यका इस तरहका रूपाजीवाका-सा मूल्याङ्कन देख पाते तो निश्चयसे रो उठते या अपनी सारी कविताओंको लेकर कहीं भाग जाते। मेरा आशय स्पष्ट है कि जिस सभ्यताने दूसरेका शोषण किया है, अपने आपको थोपा है और सर्वश्रेष्ठताका डिण्डिम घोष किया है, वह खोखली है। वह हमारे लिये उपयुक्त नहीं पड़ती। मेरे एक विदेशी मित्रने मुझे लिखा था—'आज तुम भारतीय जिस भौतिकताके

पीछे अन्धे होकर भग रहे हो, हमने उसका पूर्ण उपभोग कर लिया है। वस्तुतः हम उससे संत्रस्त हैं। हमें तो वह चाहिये जो तुम्हारे पास कभी था।' यह भावना वर्तमान पीढ़ीकी ही नहीं है, कई पीढ़ियोंसे यह गूँज उठ रही है, पर उसे कोई नहीं सुनता—वहाँ-वाले भी नहीं, यहाँवाले भी नहीं।

आटोमेटनका युग है। स्वचालितमें एक क्रिया है, निष्प्राण कर्म। इसी स्वचालनका तकाजा है, सीधा प्रकार (डाइरेक्ट मेथड्) जो कुछ कहना है, जो कुछ करना है, सीधे विना किसी भूमिकाके। इसका अर्थ यह हुआ कि हम जिस विधिसे जीना चाहते हैं, उसमें रस नहीं है, प्राण नहीं है, है तो कोरा यथार्थ वाद, सूखा उपयोगितावाद। इस उपयोगिता बनाम यथार्थका प्रसार यदि इसी रूपमें होता रहा तो व्यक्तिका हृदय सूख जायगा—नीरस स्वार्थमात्र रह जायगा। हर चीजका भाव-तोल होने लगेगा। जिस मानवीयताके लिये हम मर मिटे थे, वही मर रही है। स्वार्थके कोई सिद्धान्त नहीं होते, उपयोगिताकी कोई सार्वकालिकता नहीं होती। इस परिवर्तनमें कोई भी सत्य स्थिर नहीं रह पायेगा। आज मानवका मन पीड़ित है, उसकी भावनाओंमें संक्रामक व्याधि फैल रही है, रसका स्रोत सूख रहा है और यह सब हो रहा है—सभ्यताके नामपर, आधुनिकी-करणके नामपर।

मैं कभी नहीं कहता कि नयेको स्वीकार ही मत करो; पर यह भी नहीं चाहता कि पुराना इसलिये बेकार हो गया है कि वह पुराना है। नया है या पुराना—वह है तो व्यक्तिकी ही उपलब्धि। आजका युग बदला हुआ है। इसका परिवेश बदला हुआ है। फिर भी मानव तो अपरिवर्तित है, उसकी सहज वृत्तियाँ तो वे ही हैं। इसलिये नये सिद्धान्तोंकी प्रतिक्रिया देखें, पुरानी मान्यताओंके परिणामोंको परखें और फिर उसे स्वीकार करें जो हमारे लिये, समाजके लिये और पीढ़ीके लिये उपादेय है। इस भौतिक सभ्यताकी विनाश-कारी जडतासे बड़ा भयंकर खतरा पैदा हो गया है, इसे विखण्डनसे, कटावसे अथवा संकीर्णनसे नहीं रोका जा सकता। विश्वशान्ति 'शिखर सम्मेलनों'से नहीं होगी, इसके लिये मानवके मनमें मानवके प्रति स्वाभाविक प्रेम उत्पन्न करना होगा, समाजोंको जोड़ना होगा, राष्ट्रोंको एक दूसरेके प्रति निष्ठावान् बनाना होगा।

सभ्यता और संस्कृतिमें कोई अन्तर स्थूलरूपसे नहीं होता, सभ्यताके परिवेशको ही, किन्हीं विशेष संघटनों अथवा जीवनकी सूक्ष्म आस्थाओंको ही संस्कृतिका मूर्ती-करण माना जाता है। आजकी यह सभ्यता सागरकी-सी विशाल और अतल गम्भीर नहीं है; इसमें है सागरका उत्ताल ज्वार, सर्वहारा आवेश और ये सब होते हैं बाह्य। इनमें कोई दिशा नहीं होती, इनका उपयोग व्यक्तिके किंवा समाजके श्रेयके लिये नहीं हो सकता। भारत और पश्चिममें मौलिक अन्तर है। हम पूर्णतः पश्चिमके प्रतीक नहीं बन सकते और यही संघर्ष गत शतियोंसे चला आ रहा है। हम वास्तवमें एक सन्धिस्थलपर खड़े हैं; ऐसे सन्धिस्थलपर नहीं, जिसमें दोनोंका समन्वय हो, वरं ऐसे सन्धिस्थलपर, जिसमें दोनों ही नहीं होते, अपनीको छोड़ नहीं पा रहे हैं और दूसरेकी ग्रहण नहीं कर पा रहे हैं। यह न स्थिरता है, न गतिमत्ता।

यन्त्रोंका प्रसार आवश्यक था; उद्योगीकरण युगकी माँग थी; किंतु इसका प्रसार जिस रूपमें हुआ, उसको जिस रूपमें हमने व्यवहारमें अपनाया—वह गलत सिद्ध हुआ। पूँजीवाद किस युगमें नहीं रहा? उच्च और निम्नका भेद किस देशमें नहीं है? पर इस उदार-चेता देशमें ये भेद सत् ही थे। इनसे व्यक्तिकी मौलिकता-पर कोई आँच नहीं आयी थी। बाह्य पक्ष अन्तरङ्गका तिरस्कार कभी भी नहीं कर सका था; किंतु आजकी इस सभ्यताने अन्तरङ्गको विकृत कर दिया है और बहिरङ्गको सँवारनेकी निष्फल चेष्टा की जा रही है। जिन अन्तरोंको पाटनेके लिये हम विधान बनाते हैं, उनको भावनाके रूपमें स्वीकार नहीं करते। इसीलिये यह विसंगति जनमी है।

आजकी सभ्यता चाहे कितनी भी सुन्दर क्यों न हो, वह व्यक्तिको व्यक्तिसे काट रही है। व्यस्तताको हम चाहे कितना ही स्पृहणीय मानकर जीवनमें उतारते जायँ, उससे उत्पन्न होनेवाली रूक्षता और निष्प्राण यथार्थवादके अभिशापसे मुक्त नहीं हो सकते। वास्तवमें सभ्यता बाह्य ही नहीं होती, अन्तरकी भी होती है; हृदयोंकी मूक सभ्यता भी जीवनका शृंगार बना करती है।

तुलसीके शब्द

(लेखक—डाक्टर श्रीहरिहरनाथजी हुक्कू, एम्० ए०, डी० लिट्०)

जे श्रद्धा संबल रहित नहिं संतन्ह कर साथ।
तिन्ह कहुँ मानस अगम अति जिन्हहि न प्रिय रघुनाथ॥

यह दोहा बालकाण्डके मानसरूपकके अन्तर्गत पाया जाता है और गीताप्रेसके मानस-संस्करण तथा 'मानस-पीयूष'में प्रथम सोपानका अड़तीसवाँ दोहा है। इसका अर्थ टीकाकारोंने यह किया है कि जिनके पास श्रद्धारूप मार्गव्यय नहीं है और न संतोंका साथ है और न जिनको श्रीरघुनाथजी प्रिय हैं, उनके लिये मानस-सर अगम है। यहाँ मानसकारने तीन बातें कही हैं। पहली यह कि मार्गव्यय यथेष्ट हो अर्थात् श्रीरामचरितमानस-सरके यात्रीके पास इतनी श्रद्धा हो कि मार्गकी कठिनाइयोंके सामने वह हवा न हो जाय; दूसरी यह कि पथ-प्रदर्शकके रूपमें सरल-चित्त संतोंका साथ हो। जिनका करुण-हृदय मार्गमें यात्रियोंके कष्टोंको निवारण करता चले; और तीसरी बात यह कि जो श्रीरामचरित-सरके यात्री होनेके इच्छुक हैं, उनको श्रीरघुनाथजीका प्रेम हो।

यहाँ जो बात विचारणीय है वह अन्तिम बात है। 'श्रीरघुनाथजीका प्रेम हो'—इसका क्या अर्थ है? श्रीरघुनाथजीका कैसा प्रेम? किस मात्राका प्रेम? किस स्थितिका प्रेम? क्योंकि आज हम 'प्रेम'का प्रयोग अनेक सम्बन्धोंमें करते हैं। हम अपने तोता या मैनाको प्रेम करते हैं; कुत्ते, बकरी या गायको प्रेम करते हैं; पड़ोसीको प्रेम करते हैं; अपने नौकरको प्रेम करते हैं; अपनी नयी मोटरकारको प्रेम करते हैं; अपने मकानको प्रेम करते हैं; फ्रिजमें रक्खे फलोंके रस या मिठाईको प्रेम करते हैं; रविशंकरके सितारवादनको प्रेम करते हैं; अपने बच्चोंको प्रेम करते हैं; अपनी धर्मपत्नीको प्रेम करते हैं; मन्दिरमें आरतीसे प्रेम करते हैं; हरिकीर्त्तनसे प्रेम करते हैं। इन सबमें श्रीरघुनाथजीका कौन-सा प्रेम है, जिसकी ओर गोस्वामीजीने संकेत किया है? सौभाग्यवश कविवर तुलसीदासजीका अपना अर्थ स्पष्ट करनेके कुछ ढंग हैं और यदि हम उनके कहनेके ढंगको समझ लें तो मानसका अर्थ सरलतासे खुल जाता है। कितने ही प्रकारसे कविवर अर्थकी ओर संकेत करते हैं। एक प्रकारके अर्थ-स्पष्टीकरणका उदाहरण इस दोहेमें है।

कविवर कहते हैं—

तिन्ह कहुँ मानस अगम अति जिन्हहि न प्रिय रघुनाथ।

यद्यपि इसका प्रचलित अर्थ यह है कि 'जिनको श्रीरघुनाथजी प्रिय नहीं हैं, उनके लिये मानस अगम है।' फिर भी श्रीरामचरितमानसमें अन्य स्थानोंपर जो बातें कही हैं, उनको देखते हुए यह अर्थ ठीक नहीं लगता। कविवर तुलसीदासजीका कहना है—

तिन्ह कहुँ मानस अगम अति

अर्थात् उनके लिये मानस-सर तक जाना असम्भव है, किनके लिये?

अति जिन्हहि न प्रिय रघुनाथ

जिनको श्रीरघुनाथजी 'अति प्रिय' नहीं हैं। यहाँ 'अति'का देहरी-दीपक-न्यायसे 'अगम' और 'प्रिय' दोनोंसे सम्बन्ध है। भक्तवर तुलसीदासजी कहते हैं कि जबतक हमको करुणानिधान प्रभु श्रीरघुनाथजीका 'अति प्रेम' नहीं होगा, तबतक हमारे लिये इस रुचिर श्रीरामचरितमानस-सरके—

राम सीय जस सलिल सुधा सम

—में स्नान करनेका सौभाग्य प्राप्त करना असम्भव है। बिना करुणामय प्रभुमें 'अति प्रेम' हुए ऐसा परम सौभाग्य पाना सम्भव नहीं।

अब एक दूसरा प्रश्न निकलता है, और वह यह कि 'अति प्रेम'का क्या अर्थ है, उसकी पहचान क्या है? हम कैसे समझें कि अब हमारा करुणानिधान सरकारसे 'अति प्रेम' हो गया है जिसकी श्रीरामचरित-सर तक पहुँचनेमें मुख्य आवश्यकता है? कविवर तुलसीदासजी इस प्रश्नका उत्तर हमको अहल्योद्धार-प्रसंगमें देते हैं। अखिल-लोकविश्राम करुणासिन्धुकी पतितपावन चरणरजने अहल्याको खोया हुआ सुन्दर शरीर दिया, खोया हुआ यौवन दिया, खोया हुआ सतीत्व दिया, खोया हुआ पति-प्रेम दिया। इस अवसरपर अहल्याकी दशा वर्णन करते हुए कविवर कहते हैं—

'अति प्रेम अधीरा पुलक सरीरा मुख नहिं आवइ बचन कही।'

'अति प्रेम' के कारण अहल्या अधीर हो गयी, उसका शरीर पुलकायमान हो गया, उसकी समझमें नहीं आया कि मैं किन शब्दोंमें नीलकमल प्रभुकी स्तुति करूँ। गोस्वामी तुलसीदासजीके मतानुसार यह 'अति प्रेम'का प्रकट स्वरूप है। कुछ ऐसा ही प्रेम ब्रह्माजीका था, जब उन्होंने रावणको सद्गति मिलनेके बाद करुणानिधान सरकारकी स्तुति की—

'अति सप्रेम तन पुलकि बिधि अस्तुति करत बहोरि।'

स्तुति करते समय 'अति प्रेम'के कारण ब्रह्माजी पुलक-गात हो गये। जब हनुमान्‌जीने अयोध्यामें समाचार दिया कि—

रिपु रन जीति सुजस सुर गावत। सीता सहित अनुज प्रभु आवत॥

तब शुभ स्वागतानुकूल प्रबन्ध करके—

हरषित गुर परिजन अनुज भूसुर बृंद समेत।
चले भरत मन प्रेम अति सन्मुख कृपानिकेत॥

भरतलालजीका यह 'प्रेम अति' कृपानिकेतसे मिलते समय इस प्रकार प्रकट हुआ कि—

परे भूमि नहिं उठत उठाए। बर करि कृपासिंधु उर लाए॥
स्यामल गात रोम भए ठाढ़े। नव राजीव नयन जल बाढ़े॥

और करुणानिधान प्रभु श्रीरघुनन्दनका भरतलालजीके प्रति 'अति प्रेम' इस प्रकार दिखलायी दिया कि—

राजीव लोचन स्रवत जल तन ललित पुलकावलि बनी।
अति प्रेम हृदयँ लगाइ अनुजहि मिले प्रभु त्रिभुवन धनी॥

अहल्या, ब्रह्माजी, भरतलालजी तथा करुणानिधान त्रिभुवनधनी—इन चारोंके 'अति प्रेम'में एक बात हर बार पायी जाती है। सब 'पुलक गात' अवश्य हो जाते हैं। अतएव हमारे श्रीरघुनाथजीके प्रति 'अति प्रेम'में कम-से-कम यह गुण तो होना ही चाहिये कि करुणामयकी स्मृतिसे हम तत्क्षण पुलकित हो जायँ।

करुणानिधि प्रभु श्रीरघुनाथजीको 'अति प्रेम' ही प्रिय है। परमप्रिय अनुज लखनलालको ललित उपदेश देते समय करुणानिधानने उनको विप्रचरन, परम कौतुकी कृपालाकी लीला तथा संत-चरन-पंकजसे प्रेम करनेका आदेश दिया। परंतु प्रभुने लखनलालको इन तीनोंसे सामान्य प्रेम करनेको नहीं कहा। 'सुर नर मुनि सचराचर साईं' ने श्रीमुखद्वारा लखनलालको यह स्पष्ट कर दिया कि प्रभुकी भक्ति प्राप्त करनेके लिये इन तीनोंमें विशेष प्रेमकी आवश्यकता है। विप्रचरनमें 'अति प्रीति' हो।

प्रथमहिं बिप्रचरन अति प्रीती।

प्रभुकी लीलामें रति हो तो वह 'अति' हो।

मम लीला रति अति मन माहीं।

संतोंके चरणमें प्रेम अगर हो तो 'अति प्रेम' हो।

संत चरन पंकज अति प्रेमा॥

श्रीरघुनाथजीको 'अति प्रेम'के बिना संतोष नहीं होता। लंकाविजयोपरान्त अयोध्या आये हुए सखाओंको बिदा करते समय करुणामय प्रभुने उनको यह स्पष्ट आदेश दिया कि अब तुम जा रहे हो परंतु मेरे प्रति सामान्य प्रेम नहीं; बल्कि 'अति प्रेम' रखना न भूल जाना--

अब गृह जाहु सखा सब भजेहु मोहि दृढ़ नेम।
सदा सर्बगत सर्बहित जानि करेहु अति प्रेम॥

करुणानिधानकी यही इच्छा है कि यदि उनका भजन हो तो वह 'दृढ़' नेमपूर्वक हो और यदि प्रेम हो तो 'अति प्रेम' हो।

श्रीरामचरित-सर तक पहुँचनेकी कठिनाइयाँ भक्तवर तुलसीदासजीने बालकाण्डके आरम्भमें गिन-गिनकर कही हैं। उत्तरकाण्डके अन्तमें कैलासपतिने गिरिजाजीसे कहा—

अति हरि कृपा जाहि पर होई। पाउँ देइ एहिं मारग सोई॥

जिस मार्गपर पाँव देनेके लिये हरिकृपा नहीं, बल्कि 'अति हरि कृपा' अनिवार्य है, क्या उस मार्गपर चलनेके निमित्त साधारण नाममात्र हरिप्रेमसे वह 'अति' हरि-कृपा प्राप्त करना सम्भव है? करुणामय प्रभु तो दाससे 'अति प्रेम' की ही आशा करते हैं; जैसा उन्होंने सखाओंसे विदाईके समय कहा था। भक्तवर तुलसीदासजीने देहरी-दीपक-न्यायद्वारा—

तिन्ह कहुँ मानस अगम अति जिन्हहि न प्रिय रघुनाथ।

—में यह रहस्य स्पष्ट कर दिया है। जब हमारा 'अति प्रेम' श्रीरघुनाथजीमें हो जाय, तब हमें समझना चाहिये कि अब हम परमपावन श्रीरामचरितमानस-सरकी यात्राके अधिकारी हुए। करुणानिधान नीलमणि प्रभुके जलज-श्याम-चरणोंमें हमारा 'अति प्रेम' स्थायीभाव हो जाय।

श्रीरामचरित-सरकी यात्राके पूर्व, श्रीरामचरित-सरकी यात्रा-की सम्पूर्ण अवधिपर्यन्त, श्रीरामचरित-सरमें मज्जन करते समय प्रभु श्रीरघुनाथजीमें हमारा 'अति प्रेम' एकरस बना रहे, तब इस अलौकिक श्रीरामचरित-सरका जो आनन्द मिलता है—वह अपूर्व है, वर्णनातीत है, परम सौभाग्यकी चरम सीमा है।

अच्छा कहे कोई तो

(लेखक—श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि')

कोई तुम्हें अच्छा कहे, तुम्हारी प्रशंसा करे तो उसकी बातका न सुनना ही अच्छा, सुनकर भी उसमें रस न लेकर उसे इस कानसे सुनकर उस कानसे निकाल देना ही भला।

सुनने—सुनकर रस लेनेमें बड़ा खतरा है, महान् विपद्की आशंका है। सुनकर कहीं तुम गर्वसे फूल उठे, रसोन्मत्ततामें झूम बेसुध हो कहीं तुम अपनी यथार्थता विस्मृत कर बैठे (और यह सहज सम्भाव्य है) तो—कहते कलेजा मुँहको आता है—तुम किसी दीनके न रहोगे। तुम्हारा बुरा हाल होगा। तुम्हारे अच्छेपनके परखच्चे उड़ जायँगे। वह बुरेपनमें बदल जायगा। स्मरण रहे यह अविस्मरणीय तथ्य कि रवि-रजनी एक ठौर नहीं रहा करते—हुआ ही नहीं करते। इसी तरह जहाँ अहंकार है, अज्ञान है—वहाँ अच्छाईका—यथार्थताका क्या काम ?

किंतु कठिनाई तो यह है कि न सुनना, सुनकर इस कानसे सुन उस कानसे निकाल देना भी सरल नहीं; काफी टेढ़ी खीर है। बात यह है कि सुनना प्रिय जो लगता है, उसमें रस जो आता है।

तो फिर क्या किया जाय ? कठिनाईसे कैसे पार हों ?

किया यह जाय, कठिनाईसे ऐसे पार हों कि सुना ढंगसे जाय—उसमें कुछ समझदारीसे काम लिया जाय।

सुनते ही—कानमें पड़ते ही सोचिये—विचारिये कि कहनेवाला सच कह रहा है कि झूठ।

झूठ कह रहा है तो फूलने-झूमनेके लिये गुंजायश ही कहाँ है, अपितु तब तो सतर्क होने एवं सावधान रहनेकी आवश्यकता है। समझ लेना चाहिये, कोई कपट-जाल बिछाया जा रहा है—तुम्हें फँसानेके लिये, किसी चक्करमें डालकर तुम्हें घन चक्कर बनानेके लिये चाल चली जा रही है। तुम्हें काठका उल्लू बनाकर अपना उल्लू सीधा करनेकी किसी सुविचारित योजनाका श्रीगणेश किया जा रहा है। इससे बचनेमें ही अच्छाई है—कल्याण है।

और जो तुम्हें लगे—वह सच कह रहा है, तो तुम्हें स्मरण कर लेना चाहिये कि वह सच आंशिक ही है। तुम्हारे सम्बन्धमें जब तुम्हें स्वयं ही ज्ञान नहीं, तो उसे पूरा ज्ञान कहाँसे हो सकता है और इसीलिये इस अवस्थामें भी फूलने-झूमनेके लिये स्थान कहाँ ? फूलते-झूमते ही अच्छेपनका विकास रुक जायगा। अहंकार एवं अचेतनतावश ह्रासका आरम्भ भी हो जाय, तो आश्चर्य नहीं। इसका उपयोग, वास्तविक उपयोग तो विनम्रता एवं सजगतापूर्वक इससे प्रेरणा प्राप्त कर अपने अच्छेपनके परिवर्धन-संवर्धनमें ही है। रसके नाते भी यही रस पूर्ण है। इसीसे तो रसके परिपूर्णतातक पहुँचते-पहुँचाते रस-वृद्धि होगी।

और भी एक बात यहाँ विचारणीय है। तुम्हें जो अच्छा कहा जा रहा है, उसमें केवल मात्र तुम्हारा अच्छापन ही हेतु नहीं है, कहनेवालेका अच्छापन भी उसे तुम्हें अच्छा कहने—समझनेके लिये प्रेरित कर

रहा है; क्योंकि जो जैसा होता है, उसे सब वैसे ही दीखते हैं। इसलिये उचित यही है कि फूलनेकी भूल न कर, झूमनेकी घुमेरीमें होश-हवास न खो, कहनेवालेके प्रति जो अपने अच्छेपनसे प्रेरित होकर तुम्हें अच्छा देख रहा है, कह रहा है, अच्छा बननेके लिये प्रेरणा प्रदान कर रहा है——सच्चे हृदयसे कृतज्ञ हुआ जाय, उसके श्रीचरणोंमें भाव-विभोरतापूर्वक सहज नत हुआ जाय। इसमें लाली है। यह लालोंका लाल बननेका नुस्खा है। रसके नाते भी इसमें अधिक रस है।

यह सच्चा रस है। सुननेका रस तो——बहुत कहे तो उसे बच्चेका बहलावा कह-समझ सकते हैं, इसके पासँग भी नहीं है। रस भुलावामात्र ही है——वह तो वास्तवमें।

अन्तमें कहना चाहता हूँ कि यह सब कहा मैंने अवश्य तुम्हारी रस-लोलुपतासे विवश होकर, किंतु हृदयकी बात तो यही है, निरापद मार्ग यही है, अच्छा यही है, भला इसीमें है कि जो तुम्हें अच्छा कहे——तुम्हारी प्रशंसा करे, उसकी बात सुनी ही न जाय; सुनकर भी उसमें रस न लेकर उसे इस कानसे सुनकर उस कानसे तुरंत निकाल दिया जाय।

श्रीबगलामुखी देवीकी उपासना

(लेखक——ब्रह्मचारी श्रीपागलानन्दजी उपनाम पं० श्रीयज्ञदत्तजी शर्मा, 'वानप्रस्थी' वैद्य)

[गताङ्क पृष्ठ १२९४ से आगे]

इसके बाद मूलमन्त्रका उच्चारण करके **'श्रीबगलामुखि इह तिष्ठ तिष्ठ'** ऐसा बोलकर संस्थापिनी मुद्राद्वारा देवीकी स्थापना करके पुनः मूलमन्त्रके उच्चारणपूर्वक **'श्रीमद्बगलामुखि इह संनिधेहि'** ऐसा कहकर संनिधापिनी मुद्राद्वारा संनिधापन करे। तदनन्तर मूलमन्त्रोच्चारणके पश्चात् **'श्रीबगलामुखि इह संनिरुद्धा भव'** ऐसा कहकर संनिरोधिनी मुद्राद्वारा संनिरोधन करे। फिर मूलमन्त्रका उच्चारण करके **'श्रीबगलामुखि इह सम्मुखी भव सम्मुखी भव'** ऐसा बोलकर सम्मुखीकरणकी मुद्रासे उन्हें सम्मुख करे। इसके बाद मूलमन्त्रके उच्चारणपूर्वक **'श्रीबगलामुखि इहावगुण्ठिता भव'** ऐसा कहकर अवगुण्ठन मुद्राद्वारा देवीको अवगुण्ठित करे। फिर मूलमन्त्रका उच्चारण करके श्रीबगलामुखीके षडङ्ग मन्त्रोंसे उनके अङ्गोंका सकलीकरण करे। तत्पश्चात् मूलमन्त्रके उच्चारणपूर्वक श्रीबगलामुखीका धेनुमुद्राद्वारा अमृतीकरण तथा उसी प्रकार महामुद्राद्वारा परमीकरण करके देवीके हृदयका स्पर्श करते हुए प्राण-प्रतिष्ठा करे। उसका क्रम निम्नाङ्कित है—

ॐ आं ह्रीं क्रौं यं रं लं वं शं षं सं ह्रौं ॐ क्षं सं हं सः ह्रीं ॐ हं सः श्रीबगलामुख्याः प्राणा इह प्राणाः, ॐ आं ह्रीं क्रौं यं रं लं वं शं षं सं ह्रौं ॐ क्षं सं हं सः ह्रीं ॐ हं सः श्रीबगलामुख्याः जीव इह स्थितः, ॐ आं ह्रीं क्रौं यं रं लं वं शं षं सं ह्रौं ॐ क्षं सं हं सः ह्रीं ॐ हं सः श्रीबगलामुख्याः सर्वेन्द्रियाणि, ॐ आं ह्रीं क्रौं यं रं लं वं शं षं सं ह्रौं ॐ क्षं सं हं सः ह्रीं ॐ हं सः श्रीबगलामुख्याः वाङ्मनश्चक्षुर्जिह्वाश्रोत्रघ्राणप्राणा इहागत्य सुखं चिरं तिष्ठन्तु स्वाहा।

इन मन्त्रोंका तीन बार पाठ करते हुए प्राणोंकी स्थापनाका कार्य पूर्ण करके ग्यारह मुद्राओंको प्रदर्शित करे। उन मुद्राओंके नाम इस प्रकार हैं—पद्ममुद्रा, मुद्गरमुद्रा, पाशमुद्रा, रिपुजिह्वामुद्रा, खड्गमुद्रा, गदामुद्रा, त्रिशूलमुद्रा, चापमुद्रा, प्राणमुद्रा, धेनुमुद्रा, योनिमुद्रा।

इन मुद्राओंका प्रदर्शन करनेके पश्चात्——मूलमन्त्रके अन्तमें **'पराश्रीबगलामुख्याः श्रीपादुकां पूजयामि, तर्पयामि, अपरा श्रीबगलामुख्याः श्रीपादुकां पूजयामि, तर्पयामि, परापराश्रीबगलामुख्याः श्रीपादुकां पूजयामि, तर्पयामि।** इन मन्त्रोंद्वारा तीन बार पुष्पाञ्जलि-समर्पणरूप पूजन करे। तत्पश्चात् पुनः मूलमन्त्रके उच्चारणपूर्वक **'श्रीबगलामुखीश्रीपादुकां पूजयामि, तर्पयामि'** ऐसा बोलकर विशेषार्घ्यजलकी बूँदोंसे तीन बार देवीका संतर्पण करे। इसके बाद श्रीमती परादेवता बगलामुखीको षोडश उपचार समर्पित करे। उसका क्रम इस प्रकार है—

आसन

मूलमन्त्रके उच्चारणपूर्वक कहे—'**श्रीबगलामुखि तुभ्य-मिदमासनं कल्पयामि । अत्रास्यताम्**' ऐसा कहकर आसन अर्पित करे ।

स्वागत

मूलमन्त्र बोलकर '**श्रीबगलामुखि तव स्वागतं सुस्वागतम्**' ऐसा बोलकर सादर स्वागतका व्याहरण करे ।

अर्घ्य

मूलमन्त्रके अन्तमें '**श्रीबगलामुखि देवि तव श्रीपादुकायै अर्घ्यं कल्पयामि स्वाहा**' ऐसा बोलकर सामान्यार्घपात्रसे किंचित् जल लेकर देवीके हाथोंपर चढ़ाये ।

पाद्य

मूलमन्त्रके उच्चारणपूर्वक '**श्रीबगलामुख्यै श्रीपादुकायै पूजयामि तर्पयामि पाद्यं परिकल्पयामि नमः**' ऐसा बोलकर पाद्य अर्पित करे—पात्रसे जल लेकर दोनों चरणोंपर चढ़ाये ।

आचमनीय

मूलमन्त्र बोलकर कहे—'**श्रीबगलामुख्यै श्रीपादुकायै पूजयामि तर्पयामि आचमनीयं परिकल्पयामि सुधा**' ऐसा कहकर आचमनीय-पात्रमें स्थित जलको देवीके मुखमें दे ।

मधुपर्क

मूलमन्त्रका उच्चारण करके '**श्रीबगलामुख्यै मधुपर्कं कल्पयामि सुधा**' इस मन्त्रसे मधुपर्क-पात्रसे मधुपर्क लेकर देवीके मुखमें दे । इसके बाद '**पुनराचमनीयं सुधा**' ऐसा बोलकर आचमनीय-पात्रसे देवीके मुखमें पुनः जल अर्पित करे ।

स्नान

मूलमन्त्रका उच्चारण करके कहे—

श्रीपादुके परिधाय बगले रत्ननिर्मिते ।
स्नानमण्डपमायाहि स्नानार्थं शक्रदिग्गतम् ॥

हे श्रीबगलामुखी देवी ! आपके स्नानके लिये पूर्व दिशामें स्नानमण्डप बना है । आप रत्ननिर्मित श्रीपादुकाओंको पहनकर स्नानके निमित्त उस स्नानमण्डपमें पधारें ।

इस प्रकार प्रार्थना करके भावनाद्वारा देवीको स्नान-मण्डपमें ले जाय । वहाँ उनके अलंकारोंको उतारे और स्नानोपयोगी वस्त्र पहनाकर सुगन्धित तेल लगा, यक्षकर्दमका उबटन लगाये । फिर मूलमन्त्रके उच्चारणपूर्वक '**श्रीबगला-मुख्यै श्रीपादुकायै स्नानीयं परिकल्पयामि नमः**' ऐसा बोलकर सुखपूर्वक सहन करनेयोग्य गर्म जलसे रत्नमय कलशोंद्वारा स्नान कराकर कंघीसे केश झाड़ दे और फिर पूर्ववत् श्रीसूक्त एवं देवीसूक्तसे स्नान कराकर सूक्ष्मवस्त्रसे अङ्गोंको पोंछ दे । फिर '**आचमनीयं सुधा**' ऐसा बोलकर आचमनके लिये जल दे ।

वस्त्र

तदनन्तर सुनहरे रेशमके सूतसे बने हुए दो पीतवस्त्र लेकर 'वं' इस जलबीजके द्वारा उनका प्रोक्षण करे । तत्पश्चात् मूलमन्त्रके अन्तमें '**श्रीबगलामुख्यै श्रीपादुकायै पूजयामि तर्पयामि वाससी परिकल्पयामि नमः**' ऐसा कहकर दोनों वस्त्र पहनाये और आचमन कराये ।

यज्ञोपवीत

तत्पश्चात् स्वर्णसूत्रनिर्मित रत्नखचित विष्णुदेवताका यज्ञोपवीत लेकर मूलमन्त्रके उच्चारणपूर्वक '**श्रीबगलामुख्यै श्रीपादुकायै पूजयामि तर्पयामि उपवीतं कल्पयामि नमः**' इस मन्त्रसे यज्ञोपवीत अर्पित करके प्रार्थना करे—

पादुके परिधायात्र बगले रत्ननिर्मिते ।
आलेपमण्डपं या हि उत्तरस्यां विनिर्मितम् ॥

हे बगलामुखी देवि ! आप रत्ननिर्मित पादुकाएँ धारण करके उत्तर दिशामें निर्मित आलेप-मण्डपके भीतर चलिये ।

आलेपन

इस प्रकार देवीको आलेपनमण्डपमें ले जाकर वहाँ मणिमय पीठपर बिठाकर चन्दन, अगुरु, कपूर, कुंकुम, कस्तूरी, गोरोचन आदिसे निर्मित दिव्य सुगन्धित आलेपन लेकर मूलमन्त्रके अन्तमें '**श्रीबगलामुख्यै श्रीपादुकायै सर्वाङ्गेऽनुलेपनं कल्पयामि नमः**' ऐसा बोलकर सर्वाङ्गमें अनुलेपन अर्पित करे । केशकलापको काला गुरुके धूपसे धूपित करके सुगन्धित तेल और कंघीसे उन केशोंको झाड़कर गूँथे ।

पुष्प तथा अलंकार-अर्पण

मूलमन्त्र पढ़कर '**श्रीबगलामुख्यै श्रीपादुकायै पूजयामि तर्पयामि मल्लिकामालतीजातीचम्पकबकुलाशोकशतपत्रपत्रपूग-कुटजपुन्नागकह्लारप्रमुखानि सर्वर्तुकुसुमानि समर्पयामि नमः**'

ऐसा कहकर ऋतुके अनुसार उपलब्ध नाना प्रकारके फूल अर्पित करे।

तदनन्तर देवीसे अलंकार-मण्डपमें पधारनेकी प्रार्थना करे।

पादुके परिधायात्र बगले रत्ननिर्मिते।
आगच्छ निर्मितं याम्यामलङ्कारस्य मण्डपम्॥

यह कहकर देवीको अलंकार-मण्डपमें ले जाय और वहाँ मणिमय पीठपर उन्हें बिठाये। तदनन्तर बहुतसे अलंकार ले आकर उनका पूर्ववत् प्रोक्षण करे। इसके बाद मूलमन्त्रका उच्चारण करके 'श्रीबगलामुख्यै श्रीपादुकायै पूजयामि तर्पयामि नवमणिमुकुटं चन्द्रशकलं सीमन्तसिन्दूरतिलकं रत्नं स्वर्णशलाकया कालाञ्जनं वालीयुगलं मणिकुण्डलयुगलं नासाभरणं अधरयावकं प्रथमभूषणं कनकताटङ्कं महापदकं मुक्तावलीं एकावलीं छिन्नवीरं केयूरयुगलं चतुष्टयं वलयावलीं ऊर्मिकावलीं काञ्चीदाम कटिसूत्रं सौभाग्याभरणं पादकटकं रत्ननूपुरं पादाङ्गुलीयकं पादयावकं चेति मुकुटाद्यलंकरणानि समर्पयामि नमः' ऐसा कहकर अलंकार अर्पित करे।

आयुध-अर्पण

मूलमन्त्रका उच्चारण करके 'श्रीबगलामुख्यै श्रीपादुकायै पूजयामि तर्पयामि दक्षिणोर्ध्वहस्ते मुद्गरं तदितरोर्ध्वहस्ते पाशं वामाधोहस्ते रिपुजिह्वां दक्षाधोहस्ते वज्रं इत्याद्यायुधानि समर्पयामि नमः

देवीको यागमण्डपमें ले जानेके लिये प्रार्थना

पादुकायुग्ममारुह्य पञ्चधातुपुरस्सरम्।
यागमण्डपमायाहि परिवारगणैः सह॥

देवि! आप पञ्चधातुपरिष्कृत श्रीपादुका-युगलपर आरूढ़ हो परिवारगणोंके साथ यागमण्डपमें पधारिये।

——इस प्रकार प्रार्थना करके रत्ननिर्मित डोलीपर बिठाकर देवीको यागमण्डपमें ले जाय और वहाँ मञ्चके ऊपर परम शिवके अङ्कमें भगवतीको विराजमान करके परिवार-देवताओंको यथास्थान स्थापित करे तथा मूलमन्त्रका उच्चारण करके पुष्पाञ्जलि दे।

अमृतचषक-समर्पण

मूलमन्त्रके अन्तमें 'श्रीबगलामुख्यै श्रीपादुकायै रत्नपात्रपरिष्कृतं शुद्धसहितं परमामृतचषकं समर्पयामि सुधा' ऐसा कहकर मुखमें परमामृत-चषक अर्पित करे। तदनन्तर पुनः मूलमन्त्रका उच्चारण करके 'श्रीबगलामुख्यै श्रीपादुकायै पुनराचमनीयकं सुधा'। आचमन अर्पित करे।

ताम्बूल

मूलमन्त्रके उच्चारणपूर्वक 'श्रीबगलामुख्यै श्रीपादुकायै कर्पूरायुतां ताम्बूलवीटिकां समर्पयामि नमः' ऐसा कहकर मुखमें पानका बीड़ा दे।

मङ्गलारार्तिक

मूलमन्त्रके अन्तमें 'श्रीबगलामुख्यै श्रीपादुकायै मङ्गलारार्तिकं समर्पयामि नमः' ऐसा कहकर मङ्गल-आरती उतारे।

श्वेतच्छत्र

मूलमन्त्र पढ़कर 'श्रीबगलामुख्यै श्रीपादुकायै श्वेतच्छत्रं समर्पयामि नमः' ऐसा कहकर श्वेतच्छत्र अर्पित करे।

चामर-युगल

मूलमन्त्रके अन्तमें 'श्रीबगलामुख्यै श्रीपादुकायै चामरयुगलं समर्पयामि नमः' ऐसा कहकर दो चँवर अर्पित करे।

दर्पण

मूलमन्त्रके उच्चारणपूर्वक 'श्रीबगलामुख्यै श्रीपादुकायै दर्पणं समर्पयामि नमः' ऐसा कहकर दर्पण अर्पित करे।

व्यजन

मूलमन्त्रके अन्तमें 'श्रीबगलामुख्यै श्रीपादुकायै अनेकरत्नखचितं व्यजनं समर्पयामि नमः' ऐसा कहकर अनेक रत्नोंसे जटित पंखा अर्पित करे।

गन्ध

मूलमन्त्रके उच्चारणपूर्वक 'श्रीबगलामुख्यै श्रीपादुकायै गन्धं समर्पयामि नमः' ऐसा कहकर गन्ध समर्पित करे।

पुष्प

मूलमन्त्रके अन्तमें 'श्रीबगलामुख्यै श्रीपादुकायै पुष्पं समर्पयामि नमः' ऐसा कहकर पुष्प निवेदित करे।

धूप

मूलमन्त्रके उच्चारणपूर्वक 'श्रीबगलामुख्यै

श्रीपादुकायै धूपं समर्पयामि नमः' ऐसा कहकर धूप अर्पित करे।

दीप

मूलमन्त्रके अन्तमें **'श्रीबगलामुख्यै श्रीपादुकायै दीपं समर्पयामि नमः'** ऐसा कहकर दीप समर्पित करे।

नैवेद्य

मूलमन्त्रके उच्चारणपूर्वक **'श्रीबगलामुख्यै श्रीपादुकायै नैवेद्यं समर्पयामि नमः'** ऐसा कहकर नैवेद्य निवेदित करे।

पुनराचमनीय

मूलमन्त्रके उच्चारणपूर्वक **'श्रीबगलामुख्यै श्रीपादुकायै पुनराचमनीयं समर्पयामि नमः'** ऐसा कहकर मुखमें पुनः आचमनीय जल अर्पित करे।

ताम्बूल

मूलमन्त्रके अन्तमें **'श्रीबगलामुख्यै श्रीपादुकायै ताम्बूलं समर्पयामि नमः'** ऐसा कहकर ताम्बूल अर्पित करे। (धूपसे लेकर ताम्बूलतकके मन्त्र आगे बताये जायँगे।)

पुष्पाञ्जलि तथा परिवारपूजाके लिये अनुज्ञा-प्रार्थना

मूलमन्त्रके अन्तमें **'श्रीबगलामुखीश्रीपादुकां पूजयामि'** ऐसा कहकर पुष्पाञ्जलिद्वारा तीन बार पूजन करे। योनि-मुद्रा दिखाकर प्रणाम करे। तदनन्तर हाथ जोड़कर मूल-मन्त्रके उच्चारणपूर्वक **''श्रीबगलामुखि !—**

संविन्मयि परे देवि परामृतचरुप्रिये ।
अनुज्ञां बगले देहि परिवारार्चनाय मे ॥

हे श्रीबगलामुखी देवि ! आप संवित्स्वरूपा हैं, परा देवता हैं। आपको परमामृतमय चरु प्रिय है। आप अपने परिवारके पूजनके लिये मुझे आज्ञा प्रदान करें।

—ऐसा कहकर अनुज्ञा-प्रार्थना करे।

आवरण-पूजा

श्रीबगलामुखी देवी चक्रदेवता-रूपमें परिणत हुई हैं, ऐसा चिन्तन करके निर्गमनमार्गसे आवरणोंकी पूजा करे। उसका क्रम इस प्रकार है। सबसे पहले बिन्दुचक्रमें मूल-मन्त्रका पाठ करके मूलमन्त्रकी देवी बगलामुखीका तीन बार पूजन और तर्पण करनेके पश्चात् प्रथम आवरणकी पूजा करे।

प्रथम आवरण

देवीके दाहिने भागमें **'ह्रौं श्रीत्रिशूलनाथश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि'** ऐसा कहकर त्रिशूलनाथका तीन बार पूजन और संतर्पण करे। तदनन्तर वाम भागमें श्वेत चँवर धारण करके **'ॐ क्रौं क्रोधिन्यम्बाश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः'** ऐसा बोलकर पूजन करे। फिर **'ॐ क्रीं स्तम्भिन्यम्बाश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः'** ऐसा बोलकर अग्रभागमें पूजन करे। तदनन्तर देवीके छः अङ्गोंकी अर्चना आरम्भ करे। पहले निम्नाङ्कित रूपसे ध्यान करना चाहिये।

तुषारस्फटिकाः श्यामा नीलकृष्णारुणार्चिषः ।
वरदाभयधारिण्यः प्रधानतनवः स्त्रियः ॥

देवीकी षडङ्गशक्तियाँ क्रमशः हिमवर्ण, स्फटिकवर्ण, श्यामवर्ण, नीलवर्ण, कृष्णवर्ण तथा अरुण-कान्तिमती हैं। ये वरद तथा अभयमुद्रा धारण करनेवाली हैं और देवीकी प्रधान मूर्तियाँ हैं। ये सब-की-सब स्त्रीरूपमें सुशोभित होती हैं। इस प्रकार ध्यान करके आग्नेय कोणमें **'ॐ ह्रीं हृदयशक्तिश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः'** ऐसा कहकर हृदयशक्तिका पूजन करे। फिर ईशान कोणमें **'ॐ ह्रीं बगलामुखी शिरःशक्तिश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयाभि नमः'** ऐसा कहकर शिरःशक्तिका पूजन करे। इसके बाद नैर्ऋत्य-कोणमें **'ॐ सर्वदुष्टानां शिखाशक्तिश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः'** ऐसा कहकर शिखा-शक्तिकी पूजा करे। फिर वायव्यकोणमें **'ॐ वाचं मुखं पदं स्तम्भय कवचशक्ति-श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः'** ऐसा कहकर कवच-शक्तिकी पूजा करे। तदनन्तर देवीके अग्रभागमें **'ॐ जिह्वां कीलय नेत्रशक्तिश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः'** ऐसा कहकर नेत्रशक्तिकी पूजा करे। फिर **'ॐ बुद्धिं विनाशय ह्रीं ॐ स्वाहा अस्त्रशक्तिश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः'** ऐसा चार बार कहकर चारों दिशाओंमें अस्त्रशक्तिका पूजन करे। इसके बाद पुष्पाञ्जलि लेकर **'एताः षडङ्गदेवताः समुद्राः ससिद्धयः सवाहनाः सायुधाः साङ्गाः सपरिवाराः सर्वोपचारैः पूजितास्तर्पिताः सन्तु'** ऐसा कहकर पुष्पाञ्जलि-समर्पणद्वारा तीन बार सबका पूजन करे। तदनन्तर सामान्य अर्घ्यका जल लेकर निम्नाङ्कित श्लोक पढ़े—

अभीष्टसिद्धिं मे देहि शरणागतवत्सले ।
भक्त्या समर्पये तुभ्यं प्रथमावरणार्चनम् ॥

'शरणागतवत्सले देवि ! मुझे अभीष्ट-सिद्धि प्रदान करो। मैं तुम्हें भक्तिभावसे प्रथम आवरणकी अर्चना समर्पित करता हूँ ।

इस प्रकार प्रथमावरणकी पूजा पूरी हुई ।

द्वितीय आवरण

त्रिकोणमें पूर्वरेखापर **'दिव्यौघेभ्यः परेभ्यो गुरुभ्यो नमः'** इस मन्त्रसे पुष्पाञ्जलि देकर यह चिन्तन करे कि इन गुरुओंके हाथमें वर और अभय है । इस प्रकार ध्यान करके पूजन करे । पूजाका क्रम इस प्रकार है—

'ॐ ऐं परप्रकाशानन्दनाथ श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः' ऐसा बोलकर गुरुपात्रस्थित अमृतसे सेचन करे । इसी प्रकार आगे दिये जानेवाले मन्त्रोंको भी पढ़कर गुरुपात्रामृतसे अभिषेक करना चाहिये । यथा—

ॐ ऐं परमात्मानन्दनाथ श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः ।
ॐ ऐं परशिवानन्दनाथ श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः ।
ॐ ऐं कामेश्वरानन्दनाथ श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः ।
ॐ ऐं श्रीमोक्षानन्दनाथ श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः ।
ॐ ऐं अमृतानन्दनाथ श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः ।

(ये दिव्यौघ कहे गये हैं ।)

इसके बाद दक्षिण रेखापर **'सिद्धौघेभ्यः परेभ्यो गुरुभ्यो नमः'** इस मन्त्रसे पुष्पाञ्जलि देकर निम्नाङ्कित मन्त्रोंसे सिद्धौघ गुरुओंका गुरुपात्रामृतसे पूजन करे ।

ॐ ऐं ईशान श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः ।
ॐ ऐं तत्पुरुष श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः ।
ॐ ऐं अघोर श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः ।
ॐ ऐं श्रीवामदेव श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः ।
ॐ ऐं श्रीसद्योजात श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः ।

(ये सिद्धौघ कहे गये हैं ।)

तदनन्तर तीसरी रेखापर **'मानवौघेभ्यः परावरेभ्यो गुरुभ्यो नमः'** ऐसा कहकर पुष्पाञ्जलि देकर निम्नाङ्कित मन्त्रोंसे पूर्ववत् पूजन करके पहले श्रीगुरुपादुका-मन्त्रका उच्चारण करके निम्न निर्दिष्ट मन्त्रोंका उच्चारण करना चाहिये ।

सिद्धगुरुश्रीअमृतानन्दनाथश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः । (तीन बार)

सिद्धपरमगुरुविमलानन्दनाथश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः । (तीन बार)

सिद्धपरमेष्ठिगुरु श्रीकण्ठानन्दनाथश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः । (तीन बार)

गुरुपादुकामन्त्र बोलकर—**श्रीप्रकाशानन्दनाथश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः ।**

गुरुपादुकामन्त्र बोलकर—**श्रीपरमगुरुश्रीशुकानन्दनाथ-श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः ।**

गुरुपादुकामन्त्र बोलकर—**परात्परगुरुश्रीबलभद्रानन्दनाथ-श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः ।**

गुरुपादुकामन्त्र बोलकर—**श्रीपरमेष्ठिगुरुश्रीपुरुषोत्तमा-नन्दनाथश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः ।**

(ये मानवौघ कहे गये हैं ।)

फिर पुष्पाञ्जलि लेकर कहे—**एते गुरवः समुद्राः ससिद्धयः सवाहनाः सायुधाः साङ्गाः सपरिवाराः सर्वोपचारैः पूजिता-स्तर्पिताः सन्तु ।**

इस प्रकार उच्चारण करके तीन बार पुष्पाञ्जलि दे । तत्पश्चात् सामान्यार्घ्यपात्रसे जल लेकर देवीको द्वितीयावरण-पूजाका समर्पण करते हुए निम्नाङ्कित श्लोक पढ़े—

अभीष्टसिद्धिं मे देहि शरणागतवत्सले ।
भक्त्या समर्पये तुभ्यं द्वितीयावरणार्चनम् ॥

इस प्रकार द्वितीयावरणकी पूजा सम्पादित हुई ।

तृतीय आवरण

इसके बाद त्रिकोणके तीनों कोणोंपर अपने सामनेसे आरम्भ करके प्रदक्षिण-क्रमसे सत्त्वादि गुणोंकी पूजा करे । उसका क्रम इस प्रकार है—

'सत्त्वादिगुणेभ्यो नमः ।' ऐसा बोलकर पुष्पाञ्जलि दे । तदनन्तर क्रमशः—

ॐ सं सत्त्वगुणरूपविष्णुश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः ।
ॐ रं रजोगुणरूपब्रह्मश्रीपादुकां पूजयामि नमः ।
ॐ तं तमोगुणरूपरुद्रश्रीपादुकां पूजयामि नमः ।

इन मन्त्रोंसे पूजन करनेके पश्चात् पुष्पाञ्जलि लेकर—**एताः सत्त्वादिगुणदेवताः समुद्राः ससिद्धयः सवाहनाः सायुधाः साङ्गाः सपरिवाराः सर्वोपचारैः पूजितास्तर्पिताः सन्तु ।** ऐसा

बोलकर तीन बार पुष्पाञ्जलि दे। फिर सामान्यार्घ्यपात्रसे जल लेकर आवरण-पूजा समर्पित करे—

अभीष्टसिद्धिं मे देहि शरणागतवत्सले।
भक्त्या समर्पये तुभ्यं तृतीयावरणार्चनम्॥

—यों समर्पित करके योनिमुद्रा दिखाकर प्रणाम करे। इस प्रकार तृतीयावरणकी पूजा पूरी हुई।

चतुर्थ आवरण

तदनन्तर षट्कोणके छहों कोणोंपर अपने सामनेसे आरम्भ करके प्रदक्षिणक्रमसे सुभगाम्बा आदि छः माताओंका पूजन करे। पहले **'षड्भ्यः सुभगाम्बादिभ्यो नमः'** इस मन्त्रसे पुष्पाञ्जलि देकर यह ध्यान करे कि सुभगाम्बादि देवियोंका शरीर पीतवर्णका है तथा वे सब-की-सब मदमत्त हैं। ऐसा ध्यान करके निम्नाङ्कित मन्त्रोंसे क्रमशः प्रत्येकका तीन-तीन बार पूजन करे।

सुभगाम्बाश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।
भगसर्पिण्यम्बाश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः॥
भगवाहाम्बाश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।
भगसिद्धाम्बाश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः॥
भगनिपातिन्यम्बाश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।
भगमालिन्यम्बाश्रीपादुकां पूजयासि तर्पयामि नमः।

इस प्रकार पूजन करके पुष्पाञ्जलि हाथमें ले **'एताः सुभगाम्बादिषट्कोणदेवताः समुद्राः ससिद्धयः सवाहनाः सायुधाः साङ्गाः सपरिवाराः सर्वोपचारैः पूजितास्तर्पिताः सन्तु।'** ऐसा कहकर तीन बार पुष्पाञ्जलि अर्पित करे। फिर सामान्यार्घ्यपात्रसे जल लेकर—

अभीष्टसिद्धिं मे देहि शरणागतवत्सले।
भक्त्या समर्पये तुभ्यं चतुर्थावरणार्चनम्॥

ऐसा कहकर पूजा समर्पित करनेके पश्चात् योनिमुद्राका प्रदर्शन करके प्रणाम करे। इस प्रकार चतुर्थ आवरणकी पूजा पूरी हुई।

पञ्चम आवरण

तदनन्तर अष्टदल कमलके आठ दलोंपर अपने सामनेसे आरम्भ करके प्रदक्षिणक्रमसे पुष्पाञ्जलि लेकर कहे— **'भैरवाष्टकसहिताभ्योऽष्टमातृभ्यो नमः'** इस प्रकार पुष्पाञ्जलि देकर निम्नाङ्कित क्रमसे पूजन करे—

ॐ अं आं असिताङ्गभैरवब्राह्मीश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

ॐ इं ईं रुरुभैरवमाहेश्वरीश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

ॐ उं ऊं चण्डभैरवकौमारीश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

ॐ ऋं ॠं क्रोधभैरववैष्णवीश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

ॐ ऌं ॡं उन्मत्तभैरववाराहीश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

ॐ एं ऐं कपालभैरवऐन्द्राणीश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

ॐ ओं औं भीषणभैरवचामुण्डाश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

ॐ अं अः संहारभैरवमहालक्ष्मीश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

इस प्रकार पूजन करके पुष्पाञ्जलि लेकर **'एता भैरवसहिताः मातरः समुद्राः ससिद्धयः सवाहनाः सायुधाः साङ्गाः सपरिवाराः सर्वोपचारैः पूजितास्तर्पिताः सन्तु'** ऐसा बोलकर बारी-बारीसे तीन बार पुष्पाञ्जलि दे। फिर सामान्य अर्घ्यपात्रसे जल लेकर—

अभीष्टसिद्धिं मे देहि शरणागतवत्सले।
भक्त्या समर्पये तुभ्यं पञ्चमावरणार्चनम्॥

ऐसा बोलकर पूजा समर्पित करे और योनिमुद्रासे प्रणाम करे। इस प्रकार पञ्चम आवरणकी पूजा पूरी हुई।

बिन्दु, नाद तथा कला-तत्त्व

(लेखक—श्रीमदनमोहनप्रसादजी)

[गताङ्क पृष्ठ १३१६ से आगे]

शक्ति प्रधानतः सोलह कलाओंसे पूर्ण रहती है। वहाँ वह पूर्णकला-मूर्ति है। शक्तिके १६ अथवा अन्य अंशकी कलामूर्ति संज्ञा है। कलामूर्तिके अंश अंशमूर्तिके नामसे और अंश-मूर्तिके अंश अंशांश मूर्तिके नामसे निर्दिष्ट होते हैं। कला एक विशेष विभूति (शक्तिकी लीला) है। कला उस अवस्था-कञ्चुकका एक अंश बनती है, जब वह परम शक्ति और कलासे उत्पन्न हुए पुरुषकी चेतनाका निर्माण करती है। कञ्चुक आच्छादिनी शक्ति है, जो प्रकृत पूर्णताको भेदकर 'अस्मि' से आच्छादित अहं-रूपमें प्रकट होती है। 'कञ्चुक' शब्दका अर्थ है—कोष अथवा संकोच; क्योंकि सृष्टि अनन्त-शक्तिका संकुचित रूप है। कञ्चुक छः प्रकारके होते हैं—माया, काल, नियति, राग, विद्या और कला। कला दो प्रकारकी होती है—'अन्तः' और 'बाह्य'। बाह्यकलाके सोलह भेदोंमें चारके नाम हैं—'निवृत्ति', 'प्रतिष्ठा', 'विद्या' और 'शान्ति' कला। और सोलहवीं कला 'अमाकला'के नामसे विख्यात है। शेष एकादश कलाओंका स्पष्ट विवरण नहीं प्राप्त होता। वे शक्तिके विभिन्न स्वरूप हैं, जो साधनामें उपयोगी होते हैं। अमाकला सबकी योनिरूपा और पाश (बन्धन)-स्वरूपा है। 'अन्तःकला सत्रहवीं कला है, जो 'निर्वाण-कला'के नामसे प्रसिद्ध है और जिसके द्वारा पाशसे मुक्ति हो जाती है। पुरुष भी षोडश कलासे युक्त होनेपर अमृता कलाके नामसे विख्यात होता है। वे षोडश कलाएँ ये हैं—पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्च कर्मेन्द्रियाँ, पञ्च तन्मात्राएँ और सोलहवाँ मन है।

नादादि तत्त्वोंकी अन्तःशक्तिके रूपसे कला नादादि तत्त्वोंको चार अण्डोंमें विभाजित करती है। वे हैं—ब्रह्माण्ड, मूलाण्ड, मायाण्ड और शक्त्यण्ड। जिस प्रकार ब्रह्माण्ड (पृथ्वी तथा अन्यान्य तत्त्वोंसे युक्त) आकाशद्वारा आवृत होता है, उसी प्रकार शेष तीनों अण्ड क्रमशः प्रकृति, माया और शक्तिद्वारा आवृत होते हैं। शक्त्यण्डमें शान्ताकला व्याप्त रहती है। इसकी सीमा शक्ति-तत्त्व, सदाख्य-तत्त्व या सदाशिव-तत्त्व, ईश्वर-तत्त्व और सद्विद्यातत्त्वतक होती है। इसमें समनी, व्यापिनी, अञ्जनी शक्तियाँ तथा उनकी कलाएँ, एवं नाद और बिन्दुकी शक्तियाँ और उसकी कलाएँ समाविष्ट रहती हैं। शक्त्यण्डके देवता मन्त्र-महेश्वर, मन्त्रेश्वर, मन्त्र और विद्येश्वर नामसे पुकारे जाते हैं, जो बिन्दु-विकासके द्वारा विश्वकी रचना करते हैं। इसके आगे मायाण्डमें विद्याकला व्याप्त है। पृथ्वीसे लेकर मायाण्डके देवता ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र प्रकृत्यण्ड (मूलाण्ड) और ब्रह्माण्डसे लेकर स्तम्बपर्यन्त सकल सृष्टि अवस्थित होती है। साधक इन कलाओंके अधिष्ठातृ-देवताकी उपासना करके उनकी सहायतासे नाना प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त करते हैं तथा क्रमशः उन्नतोन्नत दशाको प्राप्तकर शक्तितत्त्व या ब्रह्मतत्त्वमें लीन हो अपने जीवनके चरम उद्देश्यको प्राप्त होते हैं।

नेत्र-तन्त्रमें कलाओंका वर्गीकरण इस प्रकार किया गया है। यथा—समनी सात प्रकारकी, अञ्जनी पाँच प्रकारकी। महानादकी एक कला है—ऊर्ध्वगामिनी और नादकी चार कलाएँ हैं। इस प्रकार वहाँ कुल सत्रह कलाएँ दी गयी हैं।

उपर्युक्त क्षेत्रीय तत्त्वोंको तीन वर्गोंमें विभक्त किया गया है—शुद्ध-तत्त्व, शुद्धाशुद्ध-तत्त्व, अशुद्ध-तत्त्व। उनके और तीन प्रकारसे भी तीन वर्ग किये गये हैं, जो शिवतत्त्व, विद्यातत्त्व और आत्मतत्त्वके नामसे पुकारे जाते हैं। सिद्धान्त-सारावली तथा अन्य ग्रन्थोंके अनुसार पहले वर्गमें अर्थात् शिवतत्त्वमें शिवतत्त्व और शक्तितत्त्व शामिल है। दूसरे वर्गमें अर्थात् विद्यातत्त्वमें सदा-शिवतत्त्व, ईश्वरतत्त्व तथा शुद्ध विद्यातत्त्वकी गणना है और तीसरे वर्गमें अर्थात् आत्मतत्त्वमें मायासे लेकर पृथ्वी-तत्त्वतक अन्तर्भूत हैं। पुनः शुद्धतत्त्वके अन्तर्गत शिवतत्त्व, शक्ति-तत्त्व, सदाशिवतत्त्व, ईश्वरतत्त्व और शुद्धविद्यातत्त्व हैं। शुद्धाशुद्धतत्त्वके अन्तर्गत माया, काल, कला, विद्या, नियति, राग और पुरुषतत्त्व हैं। तथा अशुद्धतत्त्वके अन्तर्गत प्रकृति, बुद्धि, अहंकार, मन, पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्च कर्मेन्द्रियाँ, पञ्च विषय तथा पञ्चतत्त्व हैं। पुनः शिवतत्त्व और शक्तितत्त्व शान्तातीता कलाके अन्तर्गत हैं।

सदाशिवतत्त्व, ईश्वरतत्त्व और शुद्ध-विद्यातत्त्व शान्ति कलाके अन्तर्गत हैं। षट्कञ्चुक अथवा माया और पञ्च-कञ्चुक विद्याकलाके अन्तर्गत हैं। प्रकृतिसे जलतत्त्वपर्यन्त प्रतिष्ठा-कलाके अन्तर्गत हैं। केवल पृथ्वी-तत्त्व निवृत्ति-कलाके अन्तर्गत हैं। मन्त्र-शास्त्रके सिद्धान्तके अनुसार जिसमें शब्दकी उत्पत्तिका विचार किया गया है—शक्ति, बिन्दु और नाद ही शक्तितत्त्व, सदाख्यतत्त्व और ईश्वर-तत्त्व हैं। तत्त्वोंके साथ कलाओंका भी सम्बन्ध है। यह कला है शक्तिरूपमें तत्त्वोंकी प्रक्रिया—यथा सृष्टि ब्रह्माकी कला है, पालन विष्णुकी कला है और संहार—मृत्यु रुद्रकी कला है। परंतु सर्वत्र कलाओंका खास-खास तत्त्वोंके साथ सम्बन्ध-निर्देश करना कठिन है। शाक्ततन्त्रोंमें चौरानवे कलाओंका उल्लेख मिलता है—जिनमेंसे उन्नीस कलाएँ सदाशिवकी, छः ईश्वरकी, ग्यारह रुद्रकी, दस विष्णुकी, दस ही ब्रह्माकी, दस अग्निकी, बारह सूर्यकी, सोलह चन्द्रमाकी मानी गयी हैं। इन चौरानबे कलाओंमेंसे पचास मातृका-कलाएँ हैं, जो पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी भावोंके द्वारा स्थूल वर्णोंके रूपमें अभिव्यक्त होती हैं।

इन चौरानबे कलाओंका पूजन 'अमृतकलश' में होता है, जिसमें ताराद्रवमयी निवास करती हैं। इनका नाम संवित् कला है। यही बात योगिनी-हृदय तन्त्रमें कही गयी है। यथा—

देशकालपदार्थात्मा यद्यद्वस्तु यथा यथा।
तत्तद्रूपेण या भाति तां श्रयेत् संविदं कलाम्॥

आगममें कहा है—'**शिवशक्तिसमायोगाज्जायते सृष्टिकल्पना।**'

अर्थात् 'शिव-शक्ति'के योगसे सृष्टिका आरम्भ होता है। इन दोनोंका योग 'नाद' कहलाता है। नाद वास्तवमें शिव-शक्तिमय है। तन्त्रमें वर्णन है कि 'नाद' शिव तथा शक्तिका मिथुनभाव है। जब महाकाल महाकालीके रूपमें विपरीत मैथुनमें रत रहते हैं, तब बिन्दुका विकास होता है। पुनः मैथुनभावमें शिव निष्क्रिय और शक्ति सक्रिय है। अतः 'नाद'को 'मितः'—'समव्यः' कहा गया है, जो क्रिया-शक्तिस्वरूप है। शब्दके आविर्भावके पूर्व दोका रहना अत्यावश्यक है। अद्वैत वास्तविकमें अक्रिय या निष्क्रिय है। दोसे तीसरा होता है, जिसमें दोनोंका सम्बन्ध है। यही है त्रिशक्ति, जो मायिक संसारमें त्रिमूर्तिरूपमें प्रकाशित होती है, जिनको ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र कहा जाता है। नादसे बिन्दुका आविर्भाव होता है, जो त्रिबिन्दुमें विभक्त हो जाता है। त्रिबिन्दु ही काम-कला है, जो समस्त मन्त्रोंका मूल है। प्रलयावस्थामें शिव और शक्ति—दोनों एकमें स्थित रहते हैं। शिव चिद्रूपसे और शक्ति चिद्रूपिणी होकर रहती हैं। पराशक्ति शिवसे भिन्न नहीं है। नाद और बिन्दु—दोनों शक्तिकी विभिन्न अवस्थाएँ हैं, जिनमें क्रियाशक्तिका बीज अङ्कुरित होकर सृष्टि-रचनाके लिये क्षेत्र तैयार करता है, अतः बिन्दु शक्तिकी घनी अवस्था है। शक्ति सृष्टि-रचनाकी इच्छासे घनीभूत होती है। अतः शक्तिकी त्रिगुणात्मिका स्थिति सकल ब्रह्ममें चिद्रूपेण ज्ञान (सत्त्व) प्रधाना, नादतत्त्वमें क्रियारूपेण रजः-प्रधाना और बिन्दुतत्त्वमें घनीभूत होनेके कारण तमः-प्रधाना हो जाती है। इन तीनों अवस्थाओंमें शक्तिके त्रिगुण विभक्त नहीं होते, बल्कि वे एक साथ रहते हुए विशिष्टगुण-प्रधान हो जाते हैं। सकल परमेश्वरको सांख्यमें 'मूल प्रकृति' कहते हैं। उसीको वेदान्तमें 'अविद्या' कहते हैं और आगममें 'शक्ति' कहते हैं। दूसरी ओर निष्कल शिव निर्गुण शिव हैं। वे सृष्टिकरी शक्तिसे सम्बन्ध नहीं रखते। सकल शिव शक्तिसे युक्त हैं। निष्कल शिव या परमशिवसे मिली हुई शक्ति चिद्रूपिणी और विश्वतृणा है। अर्थात् संसारके परे है। जो शक्ति 'सृष्टिकरी' शब्दसे युक्त है, वह जगत्में विश्वात्मिकारूपमें प्रकट होती है। पराशक्ति चैतन्यके साथ स्थिरावस्थामें एक होकर रहती है। उसका दूसरा भाग नाद और बिन्दुमें परिणत होता है। परमात्माके विश्व-रूपमें परिणत होनेके लिये नाद और बिन्दु विकासकी ओर गतिशील अवस्थाएँ हैं। नाद-शक्तिमें क्रिया प्रधान है। जगत्का विकास प्रकृति-पुरुष तत्त्वके आविर्भाव होनेपर ही होता है और तभी बुद्धिसे पृथ्वीतक जो अशुद्धतत्त्व हैं, उन्हींका विकास होता है। साधनामें जो शक्ति निरामय-पदकी ओर उन्मुख होती है, नादरूपमें प्रबुद्ध होती है और शिवकी ओर उन्मुख होती है, तब वह 'पुम्'रूपा होती है; क्योंकि वह हंसका 'हं' रूपा होती है। प्रलयावस्थामें जो परम शिवके साथ 'अहम्' और 'इदम्'—दोनोंसे युक्त होकर रहती थी, अब शक्तितत्त्वमें आविर्भूत

होकर नादरूपमें परिणत होती है। अतः नाद क्रियाशक्ति-रूप है। कलातत्त्व ही शब्दभाव है। मन्त्रशास्त्रमें नादका वही स्थान है, जो छत्तीस तत्त्वोंमें सदाशिवतत्त्वका स्थान है। विन्दु ईश्वरतत्त्व है। नादका धातुगत अर्थ शब्द है। यह शब्द स्थूल शब्द नहीं है, जो कानसे सुनायी देता है, जो आकाशका गुण है, आकाश-स्थानमें व्याप्त है। वही शब्द अर्थरूपमें आविर्भूत होता है। नाद शब्दका सूक्ष्म-भाव है, वह क्रियाशक्तिका प्रथम विकास है। 'परानाद' और 'परावाक्' पराशक्ति हैं। नाद पराशक्तिका अव्यक्तात्मा है। वही नाद मात्रा है, जो शब्दरूपसे आविर्भूत होता है। वह शब्द वर्णादिविशेषरहित है। वही विन्दुरूपसे विकासको प्राप्त करता है। मन्त्रभावमें यह महाविन्दु ही 'शब्दब्रह्म' है। विन्दु ही विकृतियों या तत्त्वों और उनके देवताओंके रूपमें विभक्त होता है। 'शब्दब्रह्म' ही शब्दार्थका कारण है। शब्दब्रह्म ही समस्त भूतोंका चैतन्यभाव है। वह चैतन्य-शक्ति समस्त प्राणियोंके शरीरमें कुण्डलिनीरूपमें विराजमान है। अतः नाद, जो विन्दुभावको ग्रहण करता है, चैतन्य और शक्ति दोनों हैं। मन्त्रकी उत्पत्तिमें नाद ही प्रथमस्थानीय है। 'शब्दब्रह्म' या विन्दु द्वितीयस्थानीय है। तृतीयस्थानीय त्रिविन्दु (विन्दु, नाद, बीज) या काम-कला है। शब्दका मातृका-भाव चतुर्थ स्थानीय है। वह स्थूलवर्णका सूक्ष्म भाव है और अन्तिम भाग स्थूल शब्द है, जो मन्त्रके वर्ण, पद और वाक्योंको बनाता है। अतः मन्त्रका आविर्भाव नादसे होता है, जो शिव-शक्तिका क्रियारूप भाव है। शिव-शक्ति ही परानाद या परावाक् है। अन्तरात्मा ही नादरूपसे शब्द करता है। अन्तरात्मा ही जीवभावमें प्राणवायुसे गतिशील होकर वर्णोंके रूपको धारण करता है। नाद स्वयं ही अनेक भावोंमें विभक्त होता है—यथा महानाद या नादान्त शब्दब्रह्मकी प्रथम गतिशील अवस्था है। नाद वह भाव है, जब शक्ति सम्पूर्ण जगत्को नादान्तसे भर देती है। निरोधिनी नादका वह भाव है, जब पूर्ण होकर विन्दुरूपमें परिवर्तित होता है। वह शक्तिकी प्रथम गतिकी पूर्ति है। शून्य-संवित् और संवित् उनके दो भाग हैं। उन्मनी कर्म-रूपा शक्तिसे परे है। वही स्व-निर्वाण परमपद है। वह निर्विकल्प निरञ्जन शिव-शक्ति है।

समस्त बीज-मन्त्रोंमें नाद और विन्दु स्थित हैं। नाद नीचे और विन्दु ऊपर लिखा जाता है; क्योंकि यही चन्द्रविन्दुका रूप है। परंतु ॐकारके चित्रणमें विन्दुके ऊपर नाद रहता है। शब्द ही समस्त रूपोंका उत्पन्न करनेवाला है। मन्त्रशास्त्रमें शक्तिके सूक्ष्म-भावका, जो नादके पूर्व और पश्चात् है, उच्चारण-कलासे बोध कराया जाता है। विन्दुको यदि आरम्भ मानें तो उन्मनी निराकारा और निरुच्चारा है। उच्चारण कला समनी है (मनःसहितात्), जो मनसे संयुक्त है। उसके पूर्वकी शक्ति उन्मनी उससे रहित है (तद्-रहिता)। शब्दब्रह्म ही शब्द और अर्थकी उत्पत्तिका कारण हैं। वह मन्त्रोंके आविष्कारका कारण है। सृष्टिकर्ता परमात्मा चैतन्यस्वरूप है, जो स्वरूपतः निष्क्रिय है। उनके निष्क्रिय और सक्रिय—दो भावोंका वर्णन ऊपर किया जा चुका है। दूसरे भावमें वह 'शक्ति' कहलाता है। शक्ति सक्रिय चैतन्य है। एक ही पदार्थके दो विपरीत भावोंका होना यद्यपि असम्भव-सा प्रतीत होता है; फिर भी वास्तवमें उसका स्वभाव ऐसा ही है। परम पदार्थ वास्तवमें अनिर्वचनीय है, जो तर्कसे असम्भव-सा प्रतीत होता है; वेदने इसको ऐसा ही बताया है तथा योगके स्वानुभवने इसको ऐसा ही सिद्ध कर दिखलाया है। कुण्डलिनी-योगमें जब कुण्डलिनी मूलाधारमें सोती है, मनुष्य संसारकी ओर जाग्रत् रहता है। जब वह जगती है, जगत्के चैतन्यभावका लोप हो जाता है और वह अपने स्वरूपमें स्थित होती है। जैसे बीजमें वृक्ष निहित रहता है, वैसे ही सकल जीव-चैतन्य उसमें निहित हैं। एक ही शिव समस्त तत्त्वोंमें विकसित होते हैं। इसका पूर्ण अनुभव योगावस्थामें होता है, जब चैतन्य निरालम्ब पुरीमें रहते हैं। अर्थात् उस समय जगत्का विषयोंसे सम्बन्ध-विच्छेद किये रहते हैं। शास्त्र भी अतीन्द्रियतत्त्वका वर्णन करते हैं। इसका वास्तविक अनुभव ज्ञानयोगके द्वारा होता है, वह ज्ञान जिस तरहसे क्यों न प्राप्त हो। ज्ञानयोगमें मनको सम्पूर्णतः बाह्यसे अन्तरमें लाया जाता है और उसको निरामय पदकी ओर ले जाया जाता है।

मन्त्रयोगमें मन उस अवस्थाका विचार करता है, जिसमें ज्ञान चैतन्यका अनुभव करता है। मन्त्रशास्त्र उसको मन्त्रके आधारपर देखता है। मन्त्र आविष्कृत शब्दका विषय है। कुण्डलिनी ज्योतिर्मयी, जो उसका सूक्ष्मरूप है और मन्त्रमयी, जो उसका स्थूलरूप है—दोनों

हैं। मन्त्रयोगमें मन्त्रमयीरूपसे उसका आरम्भ किया जाता है। समस्त विषयोंका शब्दार्थरूपमें वर्णन किया जाता है और उसके पूर्वके अन्यान्य कारणरूपोंका भी वर्णन करते हैं। उसका प्रथम रूप नाद है, जो बिन्दुमें परिणत होता है। तब तत्त्वोंके भिन्न-भिन्न अव्यक्त रव होते हैं तथा वर्णमाला होती है, जिससे मन्त्र बनते हैं। समष्टि-चैतन्य परावाक् होता है, जिससे सूक्ष्म और स्थूल शब्दोंका विकास होता है, जो मातृका और वर्ण कहलाते हैं। परावाक् भाव और भाषासे रहित है; परंतु वह क्रमशः भाषा और भावमें परिणत होता है। वही अर्थरूपमें परिणत होता है, जिसका अनुभव इन्द्रियद्वारा हुआ करता है। इसका क्रमशः विकास पराशब्दसे पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरीमें होता है।

शारदातिलकमें कहा गया है—

सा प्रसूते कुण्डलिनी शब्दब्रह्ममयी विभुः।
शक्तिं ततो ध्वनिस्तस्मान्नादस्तस्मान्निरोधिका॥
ततोऽर्द्धेन्दुस्ततो बिन्दुस्तस्मादासीत् परा ततः।
पश्यन्ती मध्यमा वाचि वैखरी शब्दजन्मभूः॥
इच्छाज्ञानक्रियात्मासौ तेजोरूपा गुणात्मिका।
क्रमेणानेन सृजति कुण्डली वर्णमालिकाम्॥
(१।१०८–११०)

अर्थात् सर्वव्यापक शब्दब्रह्म, जो कुण्डलिनीशक्ति है, वह प्राणीगणोंके देहके मध्यमें विराजती है। यथा—

'यत्कृत्वा कुण्डलीरूपं देहिनां देहमध्यगम्॥'

कुण्डलिनीसे ध्वनिका विकास होता है। ध्वनिसे नाद, नादसे निरोधिका, निरोधिकासे अर्द्धेन्दु, अर्द्धेन्दुसे बिन्दु तथा पराका आविर्भाव होता है। परासे पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी शब्दका विकास होता है। इस प्रकार कुण्डलिनी, जो इच्छा, ज्ञान और क्रियारूपा है और जो तेजोरूपा, चिद्रूपा और गुणात्मिका या प्रकृतिरूपा दोनों हैं, वर्णमालाकी उत्पत्ति करती है। समष्टिगत सप्त विकासके सदृश मनुष्यशरीरमें सप्तभेद हैं। कुण्डलिनी शब्दब्रह्म है, जो चित् या चैतन्यका एक भाग है। शक्तिसे यहाँ बोध होता है कि चित्का सत्त्वमें प्रवेश (सत्त्वप्रतिष्ठा) है, जो परमाकाशा अवस्था है। ध्वनिसे अभिप्राय है कि वह चित्-शक्ति सत्त्वमें प्रविष्ट होकर रजोऽनुविद्धा होती है, अर्थात् रजोगुणमें प्रविष्ट होती है। वह अक्षय अवस्था है। नादसे अभिप्राय है कि वही चित् तमोगुणमें प्रविष्ट होकर (तमोऽनुविद्धा होकर) अव्यक्ता अवस्थामें प्रविष्ट होता है। निरोधिकासे अनुभव होता है कि वही चित् तमोगुणसे अधिक व्याप्त होता (तमःप्रचुर) है। अर्द्धेन्दुमें सत्त्वकी प्रचुरता है (सत्त्वप्रचुर)। बिन्दु-शब्दसे बोध होता है कि वही चित् दोनोंकी मिश्रण अवस्था है (तदुभयसंयोगात्)। इस विकाससे प्रकट होता है कि किस प्रकार शक्ति क्रमशः सूक्ष्मसे स्थूलरूपको धारण करती है, जब बिन्दुकी घनीभूत अवस्थामें आती है। जब क्रिया पूर्णतया कार्यकरी होती है, अर्थात् वह इच्छा-शक्तिसे बलपूर्वक आकृष्ट होकर ज्ञान-शक्तिसे प्रदीप्त होकर पुंरूपिणी होती है। जो प्रभु हैं और क्रियाख्या होती है या क्रियाशक्ति होती है। पुनः परा शब्द, जो पराबिन्दु है और निष्पन्द है, वह शब्द-विभागके अनुसार त्रिविधरूपमें होती है जिसको पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी कहते हैं। यों पराबिन्दु या शब्दब्रह्मके विकसितरूप हैं। वह बिन्दु, जो परा है, जब अविकसित, अगतिशील रहती है, तब पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी वाक् कहलाती है। परा मूलाधार चक्रमें है, पश्यन्ती स्वाधिष्ठानमें और उससे परे है, मध्यमा अनाहत और उससे परे है और वैखरी कण्ठमें है। कुण्डलिनी सूक्ष्मशक्ति है। वह ज्योतिर्मयी-रूपिणी है और अश्रोत्रविषया है। तब वह ऊर्ध्वगामिनी होती है और पश्यन्तीरूपसे सुषुम्ना नाड़ीमें स्वयंप्रकाशा होती है। तब हृदयकमलमें मध्यमा होकर नादरूपिणी होती है। तब ऊर्ध्वगामिनी होकर संजल्पमात्रा अविभक्ता होती है। वही हृदय, कण्ठ, दन्त, नासिका, जिह्वा और मस्तिष्कमें वर्ण-रूपको धारण करती है। वह जिह्वा तथा ओष्ठके बहिर्गत होती है और वैखरी बन जाती है, जो समस्त शब्दोंकी माता है और तब उसका शब्द श्रुतिगोचर होता है।

मन्त्रयोगके अभ्याससे केवल विचारद्वारा ही वेदान्तको समझा नहीं जाता है; परंतु शुद्धभावका विकास करता है, जो चित्-शुद्धिद्वारा महाभावमें परिणत होता है। इसका अभ्यास मन्त्रशास्त्र या तन्त्रशास्त्रके साधनके नियमोंद्वारा किया जाता है। बिना चित्त-शुद्धि हुए वैदान्तिक शिक्षाका यथार्थ फल प्राप्त नहीं हो सकता।

समस्त मन्त्रोंके ऊपर नाद और बिन्दु हैं, जो क्रमशः जगत्का बोधक तथा जगत्के त्रिविध दुःखोंसे निवृत्तिका बोधक है। यथा—

'विश्वमात्रार्थको नादः।
बिन्दुर्दुःखहरार्थकः॥'

अतः योगशास्त्रमें बिन्दुरूपी ब्रह्मको साक्षात् करनेके लिये शाम्भवी मुद्राका अभ्यास किया जाता है । यथा—

शाम्भवीं मुद्रिकां कृत्वा आत्मप्रत्यक्षमानयेत् ।
बिन्दुं ब्रह्म सकृद् दृष्ट्वा मनस्तत्र नियोजयेत् ॥

अर्थात् 'शाम्भवीमुद्राके अभ्याससे आत्माको प्रत्यक्ष किया जाता है तथा बिन्दुरूपी ब्रह्मका साक्षात्कार कर मनको उसमें लीन करना पड़ता है ।'

सारांश यह है कि एक ही सहस्रारात्मक बिन्दु या महाबिन्दुमें शरीरस्थ षट्चक्रोंका भी अन्तर्भाव है । बिन्दु मूलाधार आदि चक्रोंकी, समष्टि-जगत्की सृष्टि, स्थिति और संहारका कारण, शिवकी शक्ति विशेष है । वह एक होती हुई भी सहस्रदल कमलके मध्य चार द्वारों—सेवनी, कर्णिकाके बीचमें चतुष्कोणात्मक शक्तितत्त्वके रूपमें स्थित है । उसके मध्यमें नादरूप शिवतत्त्व है । वह भी चार प्रकारका है । शिव-शक्ति दोनों शब्दार्थरूप होनेके कारण कलात्मक हैं । नाद-कलाका मिश्रणरूप अतिरिक्त पदार्थ माना जाता है । यह बिन्दु पुनः दशधा विभक्त होता है । यथा—

दशधा भिद्यते बिन्दुरेक एव परात्मकः ।
चतुर्धाऽऽधारकमले षोढाधिष्ठानपङ्कजे ।
उभयाकाररूपत्वादितरेषां तदात्मना ॥

निष्कर्ष यह है कि एक ही बिन्दु चतुर्दल मूलाधार-चक्रमें मन, बुद्धि, अहंकार (चित्त), प्रकृतिभेदसे चार प्रकारका हो जाता है तथा षड्दल स्वाधिष्ठानमें काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य या मायादि षट्कञ्चुक-रूपसे वह छः प्रकारका हो जाता है । ये दस बिन्दु ही संसार-कारण बिन्दु हैं । ये शरीरस्थ दो चक्र ही उपर्युक्त दस बिन्दु हो जाते हैं । इसके आगे इन दोनों प्रकारके कमलोंका मिश्रण नाभिप्रदेशके दशदल मणिपूरक नामक चक्रमें होता है । उसके आगे हृदयप्रदेशमें द्वादशदल अनाहतचक्र है । यह मणिपूरके दशदलों तथा उसके मूल दो दलोंसे मिलकर बनता है । अतः मणिपूर ही अनाहतकी प्रकृति हुई । कण्ठदेशमें षोडशदल विशुद्धचक्र है । हृदयदेशके द्वादशदल तथा मूलाधारके चार दल मिलकर ही विशुद्धके षोडशदल बनते हैं । मध्यमें आज्ञाचक्र, मूलाधार और स्वाधिष्ठान प्राकृतिक होनेसे द्विदलचक्र होता है । इस प्रकार मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा—चारों चक्र मूलाधार और स्वाधिष्ठानसे उद्भूत होनेके कारण इन दोनोंके अन्तर्भूत हैं और ये दोनों चक्र सहस्रारात्मक बिन्दुभेद होनेके कारण सहस्रारके ही अन्तर्भूत हैं । इस प्रकार सब चक्रोंका ऐक्य हो जाता है और एक ही बिन्दु दशधा होकर सर्वमय हो जाता है ।

ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय तथा ध्याता, ध्यान, ध्येय—इन त्रिपुटियोंकी अभेदभावना ही आभ्यन्तर पूजा है । यह भावना अधिकारिभेदसे तीन प्रकारकी कही गयी है—यथा सकल-भावना, सकल-निष्कल-भावना और निष्कल-भावना । इनमें निष्कल-भावना उत्तम अधिकारीके लिये है । इसमें केवल महाबिन्दुमें ही बिन्दु आदि नवचक्रोंके पारस्परिक भेदके बिना निर्विषयक चित्स्वरूप कामकलाकी भावना करनी पड़ती है । यह सर्वोत्तम साधना है । मध्य श्रेणीके साधकके लिये बिन्दुसे लेकर अर्द्धचन्द्र, पादचन्द्र, कलाचन्द्र, नादशक्ति, व्यापिका, रोधिनी, समना, उन्मना आदि नवचक्रोंकी ऐक्य-भावना उत्तम है । इसीको सकल-निष्कल-भावना कहते हैं । तृतीय श्रेणीके साधकके लिये शरीरचक्रोंकी ऐक्य-भावना करनी चाहिये । यही सकल-भावना है ।

सकल, निष्कल और मिश्र (सकल-निष्कल)—ब्रह्म-शक्तिकी ये तीन अवस्थाएँ हैं । अतः ब्रह्म-शक्तिकी उपासना भी स्वभावतः इन तीनों श्रेणियोंमें ही अन्तर्भुक्त हो जाती है । उपासनाके क्रमसे सकलभावकी उपासना निकृष्ट है । मिश्रभावकी उपासना मध्यम है एवं निष्कल उपासना ही श्रेष्ठ है । परंतु हमलोग जिसे साधारणतः उपासना कहते हैं, वह इन तीन श्रेणियोंमेंसे किसीके अन्तर्गत नहीं है; क्योंकि जबतक गुरुकी कृपासे कुण्डलिनी शक्तिका उद्बोधन तथा सुषुम्णाके मार्गमें प्रवेश नहीं हो जाता, तबतक उपासनाका अधिकार नहीं उत्पन्न होता । मूलाधारसे आज्ञाचक्र-पर्यन्त चक्रेश्वरीरूपमें शक्तिकी आराधना ही निकृष्ट उपासना है । परंतु जो साधक इन्द्रियों और प्राणकी गतिका अवरोध करके कुलपथमें प्रविष्ट नहीं हो सकता, उसके लिये परब्रह्म परमात्मा या शक्तिकी अधम उपासना भी सम्भव नहीं है । साधक क्रमशः अधमभूमिसे यथाविधि साधनाद्वारा निर्मलचित्त होकर मध्यमभूमिकी उपासनाका अधिकारी होता है । तब उत्तम अधिकार प्राप्तकर अद्वैत-उपासनामें सिद्धिलाभ करता है । मूलाधारसे सहस्रदल कमल-पर्यन्त समस्त चक्रकी उपासना ही कर्मात्मक अपरापूजा है । इसके बिना आवेश उदय नहीं हो सकता ।

निम्नभूमिकी उपासनाके प्रभावसे साधक मध्यमभूमिमें उपनीत होता है। तब समुचित ज्ञान और कर्मका आविर्भाव होता है तथा आन्तर अद्वैत धाममें क्रमशः बाह्य चक्रादिका लय हो जाता है। इसके बाद जब ज्ञानमें कर्मकी परिसमाप्ति हो जाती है, तब अभेद या अद्वैतभूमिकी स्फूर्ति होती है और साधक परापूजाका अधिकार प्राप्त करता है। एकमात्र परम शिवकी स्फूर्ति या ब्रह्मज्ञान ही परापूजाका नामान्तर है।

उपरि-कथित मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, लम्बिकाग्र और आज्ञा—ये सभी अज्ञान-राज्यके अन्तर्गत हैं। ज्ञानके संचारके साथ-साथ ही आज्ञाचक्रका भेदन हो जाता है। अथवा दूसरे प्रकारसे यह कह सकते हैं कि आज्ञाचक्रका भेदन करनेसे ध्यानका उदय होता है। आज्ञाचक्रके बाद ही बिन्दुस्थान है। यही बिन्दु योगियोंका तृतीय नेत्र अथवा ज्ञानचक्षु कहलाता है। इसी बिन्दुसे ज्ञानभूमिकी सूचना मिलती है। चित्त एकाग्र होनेपर बिन्दुमें अवस्थित होता है। बिन्दुभूमिमें साधक अहंभावमें प्रतिष्ठित होता है। तभी वह समस्त प्रपञ्चको निरपेक्षभावसे देख सकता है। जब अहंभावका पूर्णतः विसर्जन होता है, तब महाबिन्दु अथवा शिवभावकी अभिव्यक्ति होती है। अतः साधक बिन्दुभावको प्राप्तकर क्रमशः कलाक्षय करते-करते पूर्णतः विगतकल अवस्थामें उपनीत होता है। बिन्दुके बाद 'बिन्दुअर्द्ध' अथवा 'अर्द्धचन्द्र' है। इसी अवस्थामें अष्टकलाशक्तिका विकास होता है। तब नवकलाके क्षीण होनेपर एक अवरोधमय घोर आवरण-स्वरूप विलक्षण अवस्थाका उदय होता है। भाग्यवान् साधक ही इसको भेद कर सकता है। यह शास्त्रमें रोधिनी नामसे प्रसिद्ध है। तब साधक नादभूमिमें उपनीत होता है। इस अवस्थामें चित्-शक्तिका आविर्भाव होता है। इसी शक्तिसे समस्त भुवन विस्तृत हो रहे हैं। इसके आगे त्रिकोण-स्वरूप 'व्यापिका' है। यह बिन्दुके विलास-स्वरूप वामादि शक्तित्रयसे संघटित है। तब सर्वकारणभूता समना शक्तिका आविर्भाव होता है। यह शिवाधिष्ठित है और समस्त ब्रह्माण्डोंकी भरणशीला है। इसपर आरूढ शिव ही परम कारण और पञ्चकृत्यकारी हैं। यह चिदानन्दरूपा पराशक्ति है। यहीं मनोराज्यका अन्त होता है। इसके आगे मन, काल, देश, तत्त्व, देवता तथा कार्य-कारणभाव—सभी सदाके लिये तिरोहित हो जाते हैं। आज्ञाचक्रपर्य[illegible] मात्रासे न्यून नहीं हो सकता। बिन्दुमें अर्द्धमात्रामें पर्यवसित होता है। इसके बाद क्रमशः क्षीण होते-होते समनाभूमिमें एक क्षणरूपमें परिणत होता है। इसके आगे मनके स्पन्दनशून्य होनेके कारण देश, काल नहीं रह जाते तथा समस्त मानसिक कल्पना-जालके उपशान्त होनेपर निर्विकल्पक निवृत्तिभावका उदय होता है। इस अवस्थामें भी विशुद्ध चिद्रूपा एक कला शेष रहती है, जो शास्त्रमें निर्वाणकलारूपसे प्रसिद्ध है। योगीजन इसको द्रष्टा या साक्षीचैतन्य कहते हैं। सांख्यका कैवल्य इसी अवस्थाकी सूचना देता है। इन सभीकी अनुभूति उन्हींको प्राप्त होती है, जो जपादिक क्रियाके द्वारा नादके उत्थानका अभ्यास करते हैं। सांख्यकी प्रकृति पञ्चदशकलात्मिका है और उसका पुरुष षोडशी या निर्वाणकलाका स्वरूप है। इस कलासे ऊपर उठे बिना महाबिन्दु या परमात्मास्वरूप शिवतत्त्वकी उपलब्धि नहीं हो सकती। तब वेदान्तकी साधना होती है। इसमें एककलामात्रावशिष्ट निर्वाणभूमि या उन्मनाभूमिको पारकर महाबिन्दुरूप पूर्णाहंतामय अवस्थामें आता है। जब उन्मनी अवस्थाका अवसान होता है, तब बिन्दु शून्य हो जाता है। तब पूर्णास्वरूप महाशक्तिका आविर्भाव होता है। महाबिन्दुके पूर्णरूपमें स्थित होनेपर उसमें पराशक्तिकी नित्य अभिव्यक्ति होती है। महाबिन्दुके रिक्त हो जानेपर परमशिवस्वरूप श्रीगुरुदेवका आविर्भाव होता है। वस्तुतः शिव-शक्तिके विभिन्न न होनेके कारण तथा महाबिन्दुकी पूर्ण और रिक्त अवस्था भी नित्य सिद्ध होनेके कारण शून्य और पूर्णत्वका आविर्भाव नित्य ही मानना होगा। जो रिक्त दिशा है, वही अमावस्या है। जो पूर्ण दिशा है, वही पूर्णिमा है। उन्हींको साधक क्रमशः काली और श्रीविद्यारूपसे जानते हैं। कालीकुल और श्रीकुलका यही गुप्त रहस्य है। मध्यमार्गमें तारा या तारिणीविद्या है। परमशिवस्वरूप श्रीगुरुदेवकी पादुका अधोमुख श्वेतवर्ण सहस्रदल कमलकी अन्तःकलिकामें वाग्भव नामक त्रिकोणके मध्यमें अवस्थित है, जहाँसे चार प्रकारके वाक् या शब्द उत्पन्न होते हैं। वह प्रकाश, विमर्श तथा इन दोनोंके सामरस्य भेदसे तीन प्रकारकी है। यह पादुका समस्त जीवोंका आत्मस्वरूप है। वहाँसे परमनादका उदय होता है, उसका अद्वैतभावसे चिन्तन करनेपर आद्याशक्तिके आनन्दभावरूपकी उपलब्धि होती है। उक्त पादुकासे निरन्तर परमामृत निकलता रहता है। उससे समस्त विश्वका संजीवन और तृप्ति होती है। चित्के बाह्यप्रदेशसे लौटकर अन्तर्मुखमें

एकाग्र होनेपर इसका अनुभव होता है । नादानुसंधानके समय अथवा आन्तरजपके समय इन्द्रियसंचार नहीं रहता । आन्तरजपके समय मन संकल्प-विकल्पशून्य हो जाता है । यही निष्कल चिन्तन अथवा ध्यानका स्वरूप है । शास्त्रमें इसीको सहज उपासना या स्वाभाविक पूजा कहा गया है । अतः कहा है—

अनाहतस्य शब्दस्य तस्य शब्दस्य यो ध्वनिः ।
ध्वनिरन्तर्गतं ज्योतिर्ज्योतिरन्तर्गतं मनः ॥
तन्मनो विलयं याति तद्विष्णोः परमं पदम् ।

(उत्तरगीता १ । ४२-४३)

अर्थात् अनाहत शब्दकी ध्वनिके अन्तर्गत ज्योतिका आविर्भाव होता है । उस ज्योतिर्मय मनको लय करनेपर परमपद या गुरुपदकी प्राप्ति होती है । इसी गुरुपद या परमपदको शैवगण शिवपद, कृष्णभक्त वैष्णवगण हरिपद, ब्रह्मवादीगण ब्रह्मपद, शाक्तगण शक्तिपद एवं सांख्यवादीगण प्रकृति-पुरुषका स्थान कहते हैं । यथा—

पदं शैवं शैवा हरिपदमिदं कृष्णशरणाः
पदं ब्राह्मं ब्रह्माचरणनिरताः केचिदितरे ।
पदं देव्या देवीपदकमलसेवासुरसिका
वदन्त्यन्योपास्यं प्रकृतिपुरुषस्थानमपरे ॥

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
ॐ शान्तिः ॐ शान्तिः ॐ शान्तिः

साम्प्रदायिकताके दो महान् दूषण संकुचित दृष्टि और गुणीजनोंका अनादर

(लेखक—श्रीअगरचन्द्रजी नाहटा)

'सम्प्रदाय' शब्दका अर्थ कोशोंमें किया गया है—'कोई विशेष धार्मिक मत, किसी मतके अनुयायियोंकी मण्डली, किसी विषय या सिद्धान्तके सम्बन्धमें एक तरहके विचार या मत रखनेवाले लोगोंका वर्ग ।' अर्थात् सम्प्रदाय धर्मकी ही एक शाखा है । मूलतः कोई बुरी चीज नहीं है । पर साम्प्रदायिकतामें एक बुरी बात प्रविष्ट हो जाती है । इसीलिये प्रामाणिक हिंदी कोशमें 'सम्प्रदायवादी और साम्प्रदायिकता' शब्दोंमें क्रमशः ये अर्थ किये गये हैं—'वह जो अपने सम्प्रदायको सबसे अच्छा और दूसरे सम्प्रदायोंको हेय या तुच्छ समझता और उनसे घृणा या द्वेष करता हो । केवल अपने सम्प्रदाय, अपने सम्प्रदायकी विशेषता और हितोंका विशेष ध्यान रखना ।' इन अर्थोंसे यह स्पष्ट है कि साम्प्रदायिकताके साथ संकुचितता भी आ जाती है और साथ ही दूसरोंको हीन या तुच्छ समझनेकी मनोवृत्ति भी । वह यहाँतक पहुँच जाती है कि दूसरोंसे द्वेष या घृणाभावतक हो जाता है और तब उसमें एक और दुर्गुण आ घुसता है कि दूसरोंकी अच्छाइयों और गुणोंकी ओर वह ध्यान ही नहीं देता । हाँ, उनके दोषोंकी ओर खूब ध्यान देने लगता है ।

इस संकुचितता और गुणीजनोंके अनादरसे मनुष्यके विकासका मार्ग अवरुद्ध हो जाता है । इसलिये साम्प्रदायिकताको विषकी संज्ञा दी जाती है । इसका असर जहरके-जैसा भयानक होता है । इसी साम्प्रदायिकताके कारण धर्मके नामपर अनेक युद्ध हुए । हजारों-लाखों व्यक्तियोंको मार डाला गया । इसीलिये इस विषसे बचे रहना प्रत्येक मानवके लिये बहुत ही आवश्यक है । कोई भी व्यक्ति अपने सम्प्रदायके नियमोंका पालन करे, उसके प्रति पूर्ण निष्ठा रक्खे । यहाँतक तो कोई दोषकी बात नहीं, अपितु कल्याणकी ही बात है । पर जब मनुष्य अपने सम्प्रदायको ही सर्वश्रेष्ठ मानकर दूसरोंके प्रति घृणा या द्वेष रखने लगता है तब उससे वास्तविक धर्मका लोप हो जाता है । नामके लिये चाहे वह अपनेको दृढ़धर्मी मान ले, पर एकान्ताग्रह या कदाग्रह जहाँ होता है, वहाँ धर्मका रस सूख जाता है । धर्म हृदयका एक पवित्र भाव है । वह विश्वमैत्रीका संदेश देता है । 'आत्मवत् सर्वभूतेषु'—यही उसका स्वर है । धर्म हमें घृणा या द्वेष करना नहीं सिखाता; यह स्मरण रखना चाहिये । संकुचितता महान् दोष है और उदारता महान् गुण है । इसीलिये कहा गया है—

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम् ।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥

जहाँतक मैंने धर्म एवं दर्शनशास्त्रोंका अध्ययन किया, मेरी यह दृढ़ मान्यता है कि गुणों और गुणीजनोंका आदर

नहीं करनेवाला व्यक्ति अपनेमें सद्गुणोंका विकास कर ही नहीं सकता। संकुचितता मनुष्यकी दृष्टिको 'कूप-मण्डूक' बना देती है। जबतक हृदय उदार और दृष्टि विशाल नहीं होगी, तबतक हम धर्मके रहस्यको ठीकसे समझ नहीं पायेंगे। यही मानना पड़ेगा। सत्यका तो एक अंश भी जहाँ हो, वह सदा ग्राह्य होना चाहिये। किसी भी व्यक्तिमें कोई भी सद्गुण हो, उसके प्रति हमारा आदरभाव होना चाहिये। गुणानुराग और गुण-ग्रहण-वृत्तिको अधिकाधिक विकसित करनेकी आवश्यकता है। किसीसे भी घृणा या द्वेष करना बहुत ही बुरी बात है। महापुरुषोंने कहा है—'घृणा पाप या दुर्गुणोंके प्रति हो; पर पापीके प्रति नहीं। उसके प्रति करुणाकी भावना ही हो।' दुष्टके प्रति भी मध्यस्थ या उपेक्षाभाव रक्खा जाय, पर घृणा और द्वेष न हों। हमें हमारेमें जो कुसंस्कार, बुरी आदतें एवं दोष हों, उनको प्रयत्न करके दूर करना चाहिये तथा साम्प्रदायिकताकी बुराइयोंसे सावधान रहते हुए वास्तविक धर्मके विकास करनेका प्रयत्न करना चाहिये। साम्प्रदायिक कट्टरता हमें सम्प्रदायसे भिन्न गुणी व्यक्तिसे दूर रखती है। हम उससे लाभ नहीं उठा पाते। हमारे लिये यह बड़े घाटेका सौदा है।

'सम्प्रदाय'-जैसे सुन्दर अर्थगर्भ शब्दको हमने नीचे गिरा दिया है। आवश्यकता है, उसे पुनः उच्च पदपर प्रतिष्ठित करनेकी। साम्प्रदायिकताको संकुचित दायरेसे ऊँचा उठाकर गुणानुराग एवं गुण-ग्रहणकी भावनाका विकास करना जरूरी है। जहाँ भी जो गुण देखे, उसके प्रति आदरभाव हो। दृष्टिको विशाल एवं उदार बनावे।

राजस्थानमें भयानक अकालसे पीड़ित गौ तथा मानव

राजस्थानमें भयानक अकाल पड़ा है। बहुत अच्छी नस्लकी गौएँ तथा गाँवोंके मनुष्य अत्यन्त दुर्दशाग्रस्त हैं। सुना है, सरकारकी ओरसे 'सार्वजनिक निर्माणविभाग' तथा 'राजस्व-विभाग' द्वारा बहुत-से शिविर चलाये जानेवाले हैं, कुछ चलाये भी जा रहे हैं। सरकारके अतिरिक्त राजस्थानीय व्यापारियोंने तथा सार्वजनिक सेवा-संस्थाओंने भी बड़ी तत्परताके साथ सेवाकार्य शुरू कर दिया है। एक सज्जनने लिखा है कि 'सार्वजनिक स्वयंसेवा-संस्थाओंके द्वारा गोरक्षाके सहायता-कार्य बहुत तत्परताके साथ समुचित व्यवस्थापूर्वक बड़ी उत्तमतासे चलाये जा रहे हैं।'

गौओंके अतिरिक्त पेटकी ज्वालासे पीड़ित मानव नर-नारियोंकी भी बहुत बुरी हालत है। हमें समाचार मिला है कि आठ आने रोज मजदूरीपर अच्छे-अच्छे उच्चकुलीन लोग मिट्टी खोदनेका काम कर रहे हैं, परंतु पूरा काम नहीं मिल रहा है। सरकारी सहायताकी घोषणा तो बहुत हुई है पर हमारे पास ऐसी सूचना है कि कई जगह अभीतक कुछ भी सरकारी सहायता नहीं पहुँची है। सरकारको इधर ध्यान देकर शीघ्र समुचित व्यवस्था करनी चाहिये।

श्रीगजाधरजी सोमानी और सेठ गोविन्ददासजीने सहायताके लिये अपील की है; कलकत्ता-बम्बईमें पर्याप्त धन-संग्रह हुआ है। एक 'राजस्थान रिलीफ सोसायटी' बनी है। 'मारवाड़ी रिलीफ सोसायटी' स्तुत्य कार्य कर रही है तथा 'गो-सेवा-संघ'के गोसेवामें नित्य संलग्न श्रीराधाकृष्णजी बजाज तो लगे ही हैं। संघके द्वारा सुव्यवस्थित रूपसे कार्य हो रहा है। कई सज्जनोंने उनके कार्यमें सहयोग दिया है। डालमिया चैरिटेबल ट्रस्टने भी पचास हजार रुपयेसे संघके द्वारा एक कैम्प चलाया है—हमें ऐसा समाचार मिला था। जोधपुरमें भी सेवाकार्य चल रहा है। 'सर्वदलीय गोरक्षामहाभियान समिति' की ओरसे जगद्गुरु शंकराचार्य, गोवर्धनमठ पुरी तथा अन्यान्य कार्यकर्ता तथा भारत गोसेवक समाजके पं० विश्वम्भरप्रसादजी शर्मा प्रभृति महानुभाव बहुत प्रयत्न कर रहे हैं।

बीकानेर, जेसलमेर, बाडमेर, कोलायत आदि स्थानोंमें बहुत आवश्यकता है। काम बहुत बड़ा तथा लंबी सेवाका है। सरकारको तथा विभिन्न स्थानोंके निवासियोंको बाँट-बाँटकर सेवाकार्य सँभालना है। श्रीरामेश्वरजी टाँटियाने लिखा है—श्रीघनश्यामदासजी बिड़लासे बात हुई थी, उन्होंने जेसलमेर जिलेमें १५००० रजाइयोंके वितरणकी व्यवस्था की है। काम शुरू हो गया है।

गीताप्रेस-सेवादल, गोरखपुरकी ओरसे बीकानेर तथा कोलायतमें शुरूसे ही काम हो रहा है। सर्वथा असहाय भूखी-प्यासी गौओंके बचानेमें गीताप्रेस-सेवादलकी ओरसे काम करनेवाले वहाँके उत्साही सज्जन बड़ी हो लगन तथा

विशुद्ध सेवाभावनासे काम कर रहे हैं । उन्हींके पवित्र सेवाभावके भरोसे गीताप्रेसका कार्य चल रहा है । अबतक बहुत अच्छी धनराशि इस कार्यमें खर्च हो चुकी है । काम चालू है । कलकत्तेके उत्साही सज्जन सहायता-कार्यमें लगे हैं तथा हमारे श्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी लोगोंको निष्काम सेवाके लिये बराबर उत्साहित कर रहे हैं । श्रीस्वामी रामनिवासजी भी कार्य कर रहे हैं । गीताप्रेस-सेवादलकी ओरसे मनुष्योंकी सेवाका भी कुछ कार्य शुरू किया गया है। धूँसे भी बाँटे गये हैं। गोसेवाका कार्य तो बहुत ठीक हो रहा है। एक सज्जनने एक समाचारपत्रमें लिखा है कि "गीताप्रेसद्वारा चलाया जा रहा पशुपालन-केन्द्र तो केन्द्रोंसे बाहर रहनेवाले पशुओंको भी चारा भिजवाता है और दुर्बल गायोंको उनके लोग गाड़ोंमें डालकर अपने केन्द्रमें लाकर रखनेकी भी व्यवस्था करते हैं ।" इसके सिवा देशनोकमें भी गीताप्रेस-सेवादलका कुछ कार्य चल रहा है । वहाँके उत्साही सज्जन भी तन-मनसे गोसेवा कर रहे हैं । अवश्य ही गीताप्रेसका कार्यक्षेत्र उसकी सीमित क्षमताके अनुसार एक छोटे-से क्षेत्र केवल बीकानेर, कोलायत तथा देशनोकतक ही सीमित है ।

इस सम्बन्धमें जो सज्जन पत्रव्यवहार करना चाहें, वे **गीताप्रेस-सेवादल-गीताप्रेस, गोरखपुर**के नामसे कर सकते हैं ।

'सर्वदलीय गोरक्षा-महाभियान समिति'के सेवाकार्यके लिये भी कुछ सज्जन सहायताके रुपये मेरे नामपर यहाँ भेजते हैं । अतः उनसे निवेदन है कि वे स्पष्ट लिखनेकी कृपा करें कि ये रुपये **'सर्वदलीय गोरक्षा-महाभियान समिति'**के द्वारा होनेवाले कार्यके लिये हैं ।

—हनुमानप्रसाद पोद्दार

सत्यमेव जयते

आज अधिकांश जनोंकी आस्था सत्यके प्रति नहीं रह गयी है । ऐसे ही जनोंका मत है कि सचाईसे पेट नहीं भरता; किंतु वास्तवमें इसमें तथ्य कुछ भी नहीं है । आज सचाईमें जो अनास्था हो रही है, उसका मुख्य कारण हमारी धनासक्ति ही है । कोई मानें, या न मानें, मुझे तो पूर्ण विश्वास है कि सत्य ही स्वस्थ और उन्नत जीवनकी कसौटी है । सत्य जीवनसे दूर नहीं है । उसका सम्बन्ध मानवजीवनके साथ शाश्वत है । मानवका पवित्र हृदय ही उसका भव्य मन्दिर है । जन-जीवनका समुचित संचालन उसीके माध्यमसे होता है । निर्भीकता और नैतिक जागरूकताका वातावरण सत्यकी शक्तिसे ही निर्मित होता है । विचारपूर्वक देखा जाय तो जीवनमें वास्तविक सुखका अनुभव सत्यके आचरणसे ही सम्भव है ।

इस जगत्में अपने लिये सभी जीते-मरते हैं । परंतु ऐसे जीने और मरनेका कुछ भी महत्त्व नहीं है । प्राणिमात्रकी स्वार्थरहित विशुद्ध सेवामें; दूसरोंके हितके लिये जीनेमें और दूसरोंके हितके लिये ही मरनेमें जीवनकी सफलता है और इसीमें सत्यका अनुपम सौन्दर्य झलकता है । सत्यकी आराधना, सत्यकी परख, सत्यका अन्वेषण, सत्यका दर्शन एवं सतत सत्यका ही आचरण—इन सबके लिये यद्यपि पहले-पहले कई कठिनाइयाँ तथा विविध बाधाएँ खड़ी होती हैं । परंतु सत्यपर दृढ़ रहा जाय तो भगवान्की कृपासे अन्तमें सत्य ही विजयी होता है । यह सर्वथा, सर्वदा सर्वत्र सुनिश्चित है । सत्यमेव जयते ।

—अजयकुमार ठाकुर 'साहित्यरत्न'

कामके पत्र

(१)

चराचर सबमें भगवान्‌को देखकर सबका हित करना चाहिये

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण ! आपका कृपापत्र मिला था। मनुष्यको अपने विशुद्ध आचार-विचार तथा अपने धर्मके प्रति अवश्य ही परम श्रद्धा रखनी चाहिये। परंतु दूसरे किसीसे कभी भी घृणा नहीं करनी चाहिये। द्वेष तो किसीसे भी कभी न करे। सत्य तो यह है कि चराचर समस्त जगत् भगवान्‌की ही अभिव्यक्ति है। इससे सभी हमारे लिये पूज्य, सेव्य और आदरणीय हैं।

जीव चराचरमें बसे एकमात्र भगवान्।
उन्हें देख नित कीजिये सबका हित-सम्मान॥
घृणा-द्वेषका त्याग कर सबसे करिये प्रीति।
प्रभु-प्रसन्नताकी सुखद यह शुचि सुन्दर रीति॥
वर्ण-जाति-कुल-देशके विविध मतोंके भेद।
प्रभु-लीला सब, हैं रमे सबमें राम अभेद॥
रहे भेद बर्तावमें नाम-रूप-अनुसार।
बना रहे पर नित्य सम सबमें आत्मविचार॥
मस्तकसे पद तक सभी एक देहके अङ्ग।
पर उनके व्यवहारमें रहता भेद-प्रसङ्ग॥
सबका हित-सुख चाहते सबमें नित सम प्रेम।
करते सबका ही वहन प्रमुदित योगक्षेम॥
इसी तरह सबमें सदा देखें प्रभुका रूप।
हितकर तन-मन-वचनसे सेवा करें अनूप॥

उपर्युक्त दोहोंके अनुसार ब्राह्मण-चाण्डाल, अपना-पराया, हिंदू-मुसल्मान, देशी-विदेशी, मनुष्य-पशु—सभीके साथ निर्दोष तथा यथासाध्य प्रेमपूर्ण व्यवहार करते हुए सदा सबका यथोचित सम्मान तथा हित-सुख सम्पादन करना चाहिये। भगवान्‌के इन वचनोंको याद रक्खे, जो उन्होंने भक्तके लक्षण बतलाते हुए प्रारम्भमें ही कहे हैं—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥
(गीता १२। १३)

'सम्पूर्ण भूतप्राणियोंमें द्वेषभावसे रहित हो, सबके साथ मित्रताका व्यवहार करे, मनमें दया भरी हो, कहीं ममता न हो, किसी बातका अहंकार न हो, अपने दुःख-सुखमें समभाव रहे तथा अपना बुरा करनेवालेको भी अभयदान देकर उसका भला करे।'

आप स्वस्थ और सानन्द होंगे। शेष भगवत्कृपा।

(२)

पापका आदेश किसीका न माने

प्रिय बहिन ! सप्रेम हरिस्मरण ! आपका पत्र मिला। आपने नाम-पता नहीं लिखा और 'कामके पत्र' शीर्षकमें उत्तर चाहा, इसलिये उत्तर प्रकाशित किया जा रहा है। आपका भगवान्‌पर पूर्ण विश्वास है तथा आप सदा उनकी कृपाकाङ्क्षिणी बने रहना चाहती हैं, सो बहुत ही अच्छी बात है। आपने भक्ति तथा भगवान्‌के नामपर छल-कपट तथा दुष्कर्म करनेवाले लोगोंके प्रति घृणा होनेकी बात लिखी तो ऐसे लोगोंसे प्रेम तो कैसे होगा। पर वास्तवमें ऐसे लोग (पुरुष हो या स्त्री) बेचारे पथभ्रष्ट होकर अपने ही हाथों अपना भीषण दुःखमय भविष्य बना रहे हैं, अतएव दयाके पात्र हैं। ऐसे लोगोंके प्रति उपेक्षा करनी चाहिये तथा हो सके तो इनको सद्‌बुद्धि प्राप्त हो और ये पाप-पथका परित्याग कर सत्पथपर आ जायँ—इसके लिये दयामय भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिये। घृणा करनी चाहिये पापोंसे; पापीसे नहीं। आपने पूछा कि 'सासके यदि कर्म ठीक न हों और वह पुत्रवधूको भी उसी मार्गपर ले जाना चाहती हो तो पुत्रवधू क्या करे।' सो, ऐसी सासकी भी, उसकी विपत्ति-अवस्थामें सेवा तो करनी ही चाहिये, परंतु उसकी अनुचित बातोंका या अवाञ्छनीय कर्मोंका न तो कभी समर्थन ही करना चाहिये और न उसके बताये मार्गपर चलना ही चाहिये।

कर्म तीन प्रकारसे सम्पन्न होते हैं—कृत (स्वयं करे), कारित (दूसरेसे कहकर करवाये) और अनुमोदित (कोई करता हो तो उसका समर्थन करे)। अतः यदि कोई पाप करनेके लिये किसीको भी प्रेरणा करता या आदेश

देता है तो वह भी पाप करता है और पापका बुरा फल उसे अवश्य भोगना पड़ेगा।

बड़ोंकी आज्ञा अधिक-से-अधिक यहाँतक मानी जा सकती है कि जिससे उनको—आज्ञा देनेवालोंको बुरा फल न भोगना पड़े; आज्ञा माननेवालोंकी कुछ हानि हो तो कोई बात नहीं। पर जिस बातमें उनका भी परिणाममें बुरा होता हो, ऐसी सम्मति या आज्ञा नहीं माननी चाहिये। यह अपराध नहीं है। पापका आदेश किसीका भी नहीं मानना चाहिये। श्रीतुलसीदासजी तो कहते हैं—

जाके प्रिय न राम बैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही॥
पिता तज्यौ प्रहलाद बिभीषन बंधु भरत महतारी।
बलि गुरु तज्यौ कंत ब्रजबनिता भये जग मंगलकारी॥

उन 'साधु-वेष' धारियों या भक्त-नामधारियोंसे तो सदा सावधान रहना चाहिये, जो त्याग तथा भगवान्‌के नामपर अनाचार करते हों। वे न तो साधु हैं, न भक्त ही। शेष भगवत्कृपा। —आपका भाई

(३)

आपसी झगड़ेका त्यागपूर्वक समझौता कर लेना चाहिये

प्रिय भाई......सप्रेम हरिस्मरण ! तुम्हारा पत्र मिला। तुमने जो कुछ लिखा, सब पढ़ लिया। भाई ! यह सत्य है कि तुम्हारे साथ उनका बर्ताव-व्यवहार अच्छा नहीं हुआ, बरं अवाञ्छनीय ही हुआ; पर तुमने जो कुछ किया, तुम ध्यान देकर देखो—क्या वह बर्ताव अच्छा है ? तुम्हारे साथ वैसा ही बर्ताव कोई करता तो क्या तुम उसे अच्छा मानते ? कम-से-कम चुपचाप क्या सहन ही कर लेते ? मनुष्यको वास्तवमें आत्म-सुधार करना है। दूसरेका कर्त्तव्य न सोचकर अपना कर्त्तव्य सोचना है और दूसरेकी भूल न देखकर अपनी भूल देखनी है। अपनी भूलके लिये पश्चात्ताप करना तथा फिर ऐसी भूल न हो, इसके लिये दृढ़ संकल्प करना है। वास्तवमें बुद्धिमान् तो वह है जो प्रतिदिन सुबह और शाम अपनी दिन-रातकी भूलोंकी याद करके फिर वैसी भूल न करनेकी भगवत्कृपाके बलपर प्रतिज्ञा करता है।

याद रखना चाहिये—यह परम सत्य है। तुम्हारे अपने ही पूर्वकृत कर्मके अनुसार बने हुए प्रारब्धके बिना दूसरा कोई भी न तो तुम्हारा अहित कर सकता है, न तुम्हें दुःख ही पहुँचा सकता है। जो ऐसा करनेकी सोचता है या करता है, वह अवश्य ही अपना बुरा करता है। इसी प्रकार तुम भी उसके प्रारब्ध बिना दूसरे किसी-का बुरा नहीं कर सकते। बुरा करनेका विचार करके अपना बुरा अवश्य कर लेते हो। अतएव दूसरोंको सुख पहुँचाने, उनका हित करनेकी मनुष्यको चेष्टा करनी चाहिये। किसीका भी न बुरा चाहना तथा न बुरा करना ही चाहिये। जो तुम्हारा बुरा करना चाहते हैं, वे बेचारे मूर्खतासे अपना ही बुरा कर रहे हैं; क्योंकि तुम्हारे प्रारब्धके बिना तुम्हारा तो बुरा वे कर नहीं सकते। अतएव वे दयाके पात्र हैं। उनके लिये भगवान्‌से यह प्रार्थना करनी चाहिये कि 'भगवान् उनको सद्बुद्धि प्रदान करें।' मेरी तो यह नम्र सम्मति है कि आपसमें लड़ाई-झगड़ा न कर—एक-दूसरेका अहित न चाहकर त्यागपूर्वक समझौता कर लेना चाहिये। दोनों ओर त्यागवृत्ति होगी तो 'राम-भरतकी तरह' लड़ाई होगी ही नहीं, प्रेम बढ़ेगा, और मिलेगा दोनोंको वही, उतना ही, जितना वस्तुतः भगवान्‌के मङ्गल-विधानके अनुसार मिलना चाहिये। अतएव शीघ्र-से-शीघ्र समझौता कर लेना चाहिये। आपसी झगड़ेको लेकर कोर्टमें जाना तो बहुत बड़ी भूल करना है। तुम बुद्धिमान् हो। गहराईसे सोचना। भगवान् तुम सबको सन्मति देनेकी कृपा करें। शेष भगवत्कृपा।

—तुम्हारा भाई

(४)

भ्रान्त प्रचार

सम्मान्य महोदय ! सादर नमस्कार। आपका कृपापत्र मिला। आपने जिन योगीजीके सम्बन्धमें पूछा है, उनको मैं बहुत दिनोंसे जानता हूँ; पर उनकी आध्यात्मिक स्थिति किस स्तरपर पहुँची हुई है, इसका मुझे कुछ भी पता नहीं है; क्योंकि यह सर्वथा स्वसंवेद्य विषय है। अवश्य ही वे 'ध्यान'के सम्बन्धमें जो कुछ कहते हैं और उसकी जो साधन-पद्धति बताते हैं, वह मेरी समझमें नहीं आती। बरं मुझे उसमें कुछ विशेष सारकी बात नहीं दीखती। वे यदि अबसे पूर्वके आचार्यों, संतों तथा शास्त्र-व्याख्याकारोंको भ्रान्त मत फैलानेवाला मानते हैं, तो यह भी कहा जा सकता है कि वे

तो भ्रान्त थे या नहीं, भगवान् ही जानते हैं, परंतु ये स्वयं या तो भ्रान्त हैं, या पता नहीं क्यों, समझ-बूझकर भ्रान्त मत फैलाते हैं। वे गीताके जिन श्लोकोंकी अधूरी व्याख्यासे अपने मतका समर्थन करते हैं, वस्तुतः उनसे उनका अपना ही खण्डन होता है। गीताके द्वारा उनका मत किसी प्रकार भी अनुमोदित नहीं है, यह समझ लेना चाहिये।

रही अनुयायी मिलनेकी तथा उनके व्याख्यानोंमें भीड़ होनेकी बात, सो भीड़के लोगोंकी संख्या किसी मतके निर्भ्रान्त तथा सत्य होनेका कदापि प्रमाण नहीं है। जिसमें कुछ भी प्रयास करना न पड़े, संयम-नियमकी, आसक्ति-कामनाके त्यागकी, विषयानुराग तथा भोगलिप्साको एवं इन्द्रियोंके आरामको त्याग करनेकी, किसी साधन-भजनकी एवं मन-इन्द्रियोंके संयमकी कोई आवश्यकता न हो और शान्ति-सुख, बन्धन-मुक्ति अनायास ही मिल जाते हों,—ऐसे सुलभ आचरणोंकी बात सुनने तथा उसके अनुसार करनेकी इच्छावाले बहुत लोग मिल जायँ, इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। पर इस भ्रान्त सिद्धान्तके परिणाममें किसी प्रकारके पारमार्थिक लाभकी आशा नहीं करनी चाहिये। आजकल बहुतसे अशास्त्रीय मत-पन्थ चल रहे हैं, वैसा ही इसे भी समझना चाहिये। शेष भगवत्कृपा।

(५)

देशमें तमोगुणकी वृद्धि

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। आपने अपने यहाँकी स्थिति लिखी तथा 'नयी सेना'के निर्माणकी चर्चा की, सो आजकल सर्वत्र प्रायः यही हो रहा है। लोगोंकी बुद्धिमें तमोगुण बढ़ रहा है, इससे स्वाभाविक ही विपरीत बुद्धि उन्हें असत्कार्यमें प्रवृत्त करती है। जगह-जगह क्षुद्र स्वार्थ तथा तुच्छ अहंको लेकर द्वेष, द्रोह, वैर, हिंसा, तोड़-फोड़ आदिके एवं भाषा तथा सीमाको लेकर, धर्म या मतवादको लेकर जो भयानक काण्ड हो रहे हैं, उनसे जन-बुद्धिका ह्रास या विनाश ही सूचित होता है।

भगवान्ने गीतामें कहा है—'भोगोंके चिन्तनसे भोगासक्ति, आसक्तिसे कामना, कामनासे क्रोध (या लोभ), क्रोधसे सम्मोह, सम्मोहसे स्मृतिनाश, स्मृतिनाशसे बुद्धिनाश और बुद्धिनाशसे सर्वनाश होता है।' आज यही हो रहा है। इसका प्रधान कारण है—जननेता तथा उन्हींका अनुकरण करनेवाली जनताका अबाध भोगचिन्तन! आत्मचिन्तन या भगवच्चिन्तनका अभाव तथा भोगचिन्तनका विस्तार जबतक बढ़ता रहेगा, तबतक अशान्ति, द्रोह, उपद्रव बढ़ते ही रहेंगे और फलतः पतन, विनाश तथा दुःखोंकी वृद्धि ही होगी। विश्वमानवकी गति आज इसी ओर है इसीसे 'विकास' के नामपर सर्वत्र 'विनाश' हो रहा है। इसीसे आजके विद्यालय वस्तुतः विद्या-'लय'के रूपमें परिणत हो गये हैं; इसीसे सेवाकार्य विद्वेष-विस्तारका कार्य हो गया है! देशभक्ति या देशसेवा स्वार्थसाधनके रूपमें परिणत हो गयी है और धर्म तथा अध्यात्मका क्षेत्र अवाञ्छनीय व्यक्तिपूजा-विस्तारका साधन बन गया है। सभी ओर पतन है। विनाश है। यह सब भगवत्-विस्मृति और भोगासक्तिका ही दुष्परिणाम है!

आप एक सेनाकी बात कहते हैं। समाचारपत्रोंके अनुसार शिवसेना, हिंदूसेना, लालसेना, भीमसेना, माँगसेना, धर्म-रक्षा-क्रान्तिसेना, निरुद्योगीसेना, वीर राजन्नासेना, विजय-सेना, क्रान्तिसेना, आमार बाँगलासेना, लाञ्छितसेना, अली-सेना, हिंदूराष्ट्रसेना, इस्लामसेना, सरदारसेना तथा और भी कई सेनाओंके निर्माणकी बात सुनी जाती है। पता नहीं, कहाँतक क्या सत्य है। पर इन सेनाओंकी बाढ़के परिणाममें तो धन-जनके साथ सौजन्य, शील, शान्ति तथा प्रेमका फलतः सुख-शान्तिका नाश ही सम्भव है। जहाँतक बने, मेरा तो यही अनुरोध है, इस तमोगुणी विनाशधाराके प्रवाहसे बचे रहें तथा दूसरोंको भी नम्रतासे बचे रहनेकी सलाह दें। इसीमें मङ्गल है। शेष भगवत्कृपा।

(६)

देश तथा देशसेवकके स्वार्थमें एकात्मता हो

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। पत्रका उत्तर देरसे जा रहा है, क्षमा करें। आपका लिखना सत्य है; परंतु जबतक देशके स्वार्थके साथ देशसेवकका स्वार्थ सर्वथा एकात्मताको नहीं प्राप्त होगा, तबतक देशसेवकके न चाहनेपर भी उसके द्वारा अपने स्वार्थसाधनके लिये देशके स्वार्थकी हानि होती ही रहेगी। यही कारण है कि आजके अधिकांश देशसेवक अपने व्यक्तिगत स्वार्थसाधनके लिये इस प्रकारके अवाञ्छनीय कार्य कर रहे हैं, जिससे देश तो डूबता ही है, वे स्वयं गिरते हैं तथा जनताके सामने एक दूषित आदर्श रखनेका पाप भी करते हैं। चुनावका वर्तमान स्वरूप इसका प्रत्यक्ष उदाहरण

है। अपने लाभके लिये एक-दूसरेको बदनाम करने, गिराने तथा पराजित करानेके जो हथकंडे अपनाये जा रहे हैं, उनसे दोनोंका ही पतन होता है; पर तमसाच्छन्न बुद्धिके कारण यह सत्य अप्रत्यक्ष रह जाता है। मेरी रायमें तो आपको इस पचड़ेमें न पड़कर बाहर रहकर रचनात्मक कार्योंके द्वारा वास्तविक देशसेवाका प्रयास करना चाहिये; धारा-सभा या संसद्के बाहर सेवाका क्षेत्र बहुत बड़ा है। आप बुद्धिमान् हैं, सोचकर अपना कर्तव्य निश्चित कीजिये। मैं तो राजनीतिक क्षेत्रसे सर्वथा अलग हूँ, अतएव कुछ कर भी नहीं सकता। शेष भगवत्कृपा।

रामचरितमानसमें भ्रातृ-प्रेमकी एक झाँकी

(लेखक—श्रीधनञ्जयजी मिश्र, व्याकरणाचार्य, एम्० ए०)

महाकवि गोस्वामी श्रीतुलसीदासकृत रामचरितमानस भारतीय संस्कृतिका प्रतिनिधि ग्रन्थ है, जिसमें भारतीय संस्कृतिके विविध स्वरूपोंका साङ्गोपाङ्ग वर्णन तत्कालीन धार्मिक, सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियोंके ज्ञानके लिये पर्याप्त है। यों तो उसके सभी प्रसङ्ग तथा वर्णन हृदयस्पर्शी तथा प्रेरणादायक हैं; किंतु भ्रातृ-प्रेमका वर्णन जिस उत्तमता एवं आदर्शके साथ किया गया है, वह सचमुच ही बेजोड़ एवं अनुपम है। रामचरितमानसका सारा कथानक भ्रातृ-प्रेमके वर्णनका सार है एवं उसी कथानकको पल्लवित करनेके लिये बीच-बीचमें अवान्तर कथाएँ वर्णित हैं।

मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामका अवतार अपने अंशोंके प्रतीक भाइयोंके साथ ही होता है और एक-दूसरे आपसी सद्व्यवहारके द्वारा जनमानसके पटलपर छा जाते हैं। महाराज श्रीदशरथजीको तो ब्रह्मानन्दका अनुभव होने लगता है।

दसरथ पुत्र जन्म सुनि काना। मानहुँ ब्रह्मानंद समाना॥
परमानंद पूरि मन राजा। कहा बोलाइ बजावहु बाजा॥

सारा अयोध्यानगर प्रसन्नताकी लहरोंसे फूला नहीं समा रहा है। देवगण अपनी-अपनी पत्नियोंके साथ आकाश-विमानसे इस परम सुखका लाभ उठा रहे हैं और उनको भी उस समय ब्रह्मानन्दका अनुभव हो रहा है। भगवान् शंकर तथा काकभुशुण्डिजी मानवरूप धारण कर प्रेमानन्दमें भरे अयोध्याकी गलियोंमें घूम रहे हैं—

परमानंद प्रेम सुख फूले। बीथिन्ह फिरहिं मगन मन भूले॥

सभी भाइयोंका नामकरण-संस्कार भी एक ही साथ कुलगुरु श्रीवसिष्ठजीके द्वारा सम्पन्न होता है और शास्त्रोंमें वर्णित अन्वर्थ संज्ञाके आधारपर प्रत्येकके गुणोंका वर्णन करते हुए नामकरण-संस्कार किया जाता है। चारों राजकुमार कुछ बड़े होते हैं और उनका खेलना-कूदना साथ-ही-साथ चलता है।

परम मनोहर चरित अपारा। करत फिरत चारिउ सुकुमारा॥

चारों कुमारोंके चरित माताओं एवं महाराज दशरथ तथा पुरवासियोंके आनन्दोल्लासको बढ़ानेवाले हैं। चूड़ाकरण, शिक्षा, यहाँतक कि विवाह-संस्कार भी सभी भाइयोंका साथ ही जनकपुर-नरेश राजर्षि जनकके यहाँ सम्पन्न होता है। इसके बादसे रामचरितमानसकी कथामें एक मोड़ आता है। श्रीभरतलाल एवं शत्रुघ्नजी अपने ननिहाल चले गये हैं। महाराज दशरथके मनमें यह उत्कट लालसा होती है कि मैं अपनी आँखोंसे श्रीरामचन्द्रका राज्याभिषेक देखूँ। इसके लिये वे अपने कुलपुरोहित श्रीवसिष्ठजीसे निवेदन करते हैं। महाराज दशरथके इस विचारको सुनकर महर्षि वसिष्ठ उनको तत्काल ही इस शुभ कार्यको कर डालनेका मुहूर्त बतलाते हैं—

बेगि बिलंबु न करिअ नृप साजिअ सबुइ समाजु।
सुदिन सुमंगलु तबहिं जब रामु होहिं जुबराजु॥

राज्याभिषेककी तैयारियाँ बड़े जोर-शोरसे सारे नगरमें होने लगती हैं। सारे पुरजन एवं परिजन बड़े उत्साह एवं उमंगसे अपने-अपने काममें जुट जाते हैं; किंतु धन्य है रामके उस भ्रातृप्रेमको, जिनको ऐसे अवसरपर अपने परम प्रिय भाई भरतकी याद सताती है। अपने अङ्गोंके फरकनेका सगुन वे यह समझते हैं कि भाई भरत आना चाहते हैं, उनके मिले कितने दिन बीत गये। श्रीरामको अपने परम प्रिय भाई भरतकी चिन्ता दिन-रात सताने लगती है, जिस

प्रकार कछुएको अपने अंडोंकी चिन्ता निरन्तर लगी रहती है।

पुलकि सप्रेम परसपर कहहीं। भरत आगमनु सूचक अहहीं॥
भए बहुत दिन अति अवसेरी। सगुन प्रतीति भेंट प्रिय केरी॥
भरत सरिस प्रिय को जग माहीं। इहइ सगुन फलु दूसर नाहीं॥
रामहि बंधु सोच दिन राती। अंडन्हि कमठ हृदय जेहि भाँती॥

जिस समय कुलगुरु श्रीवसिष्ठजी श्रीरामचन्द्रजीको अभिषेकका सुखद समाचार सुनाते हैं तथा उनको संयम एवं नियमसे रहनेका उपदेश देकर महाराज दशरथके पास चले जाते हैं। उस समय मर्यादापुरुषोत्तम रामका मन इस समाचारसे व्यथित हो उठता है। वे सोचने लगते हैं कि हम सभी भाइयोंके जन्म, संस्कार, खेल-कूद तथा शिक्षा-दीक्षा सभी एक साथ सम्पन्न हुए, किंतु यह कैसी विषमता है कि सभी भाइयोंको छोड़कर बड़े भाई होनेके कारण मुझे युवराज बनाया जा रहा है! यह है भ्रातृ-प्रेमकी पराकाष्ठा!

जनमे एक संग सब भाई। भोजन सयन केलि लरिकाई॥
करन बेध उपबीत बिआहा। संग संग सब भए उछाहा॥
बिमल बंस यहु अनुचित एकू। बंधु बिहाइ बडेहि अभिषेकू॥

पवित्र रघुवंशके लिये यह व्यवहार श्रीरामचन्द्रजीको अनुचित लगता है। आजके भाई छोटेसे स्वार्थके लिये अपने सहोदर भाईका गला घोटनेमें भी जरा नहीं हिचकते, अपितु उनका सर्वनाश कर पूर्ण स्वामित्वकी अभिलाषा रखते हैं। यह है हमारा आजका भ्रातृ-प्रेम!

यही नहीं, विधिकी विडम्बना तथा माता कैकेयीकी कुटिलता तथा महाराज दशरथकी असमर्थताके कारण अयोध्या-राज्यके बदले चौदह वर्ष कानन-राज्यका निर्णय श्रीरामचन्द्रजीको जिस समय सुनाया जाता है, उस समय भी वे जरा-सा भी विचलित नहीं होते, बल्कि सहर्ष माता एवं पिताकी आज्ञाको शिरोधार्य करते हैं। उस समय भी उनको भरत प्राणोंसे प्रिय लगते हैं—

भरतु प्रानप्रिय पावहिं राजू। बिधि सब बिधि मोहि सनमुख आजू॥

महाराज दशरथ, माता कौसल्या तथा अन्य पुरवासियोंको यथोचित सान्त्वना देकर माता एवं पिताके आज्ञानुसार छोटे भाई लक्ष्मण एवं अपनी प्रियतमा सीताके साथ श्रीरामचन्द्रजी मुनिवेष धारणकर सहर्ष काननके लिये प्रस्थान कर देते हैं। रामके वियोग-विरहमें तड़प-तड़पकर महाराज दशरथके प्राणपखेरू उड़ जाते हैं। सारी अयोध्या शोक-सागरमें डूब जाती है। श्रीरामचन्द्र एवं लक्ष्मण जंगलमें तथा भरत एवं शत्रुघ्न ननिहाल! अयोध्या बेहाल बिना स्वामीके डरावनी लगती है। महर्षि वसिष्ठ श्रीभरतलालके यहाँ दूत भेजते हैं। श्रीरामचन्द्रजी चलते-चलते अपने परम प्रिय भाई भरतको उपदेश देना नहीं भूलते। सुमंतसे कहते हैं—

कहब सँदेसु भरत के आएँ। नीति न तजिअ राजपदु पाएँ॥
पालेहु प्रजहि करम मन बानी। सेएहु मातु सकल सम जानी॥
ओर निबाहेहु भायप भाई। करि पितु मातु सुजन सेवकाई॥

दूत कैकय-देश पहुँचता है और महर्षि वसिष्ठका समाचार सुनकर दोनों भाई रथसे अपनी नगरी अयोध्याके लिये चल पड़ते हैं। रास्तेमें अनेक अपशकुन होते हैं। पुरजन भी भरतसे कुछ नहीं कहते। भरत भी भयके कारण उनसे कोई समाचार नहीं पूछते। सर्वप्रथम भरतको अपनी माता कैकेयीका सामना होता है। भरतजी अपनी मातासे पूछते हैं—

कहु कहँ तात कहाँ सब माता। कहँ सिय राम लखन प्रिय भ्राता॥

अपने प्रिय पुत्र श्रीभरतलालजीकी बातोंको सुनकर कैकेयी अपने सभी कुकृत्योंका कपटपूर्ण ढंगसे आँखोंमें आँसू भरकर वर्णन करती है। भरत अपने पिता महाराज दशरथके सुरलोक जानेके समाचारसे व्याकुल होकर पृथ्वीपर गिर पड़ते हैं। सबसे बड़ा दुःख उनको यह हो रहा है कि चलते समय आपका दर्शन नहीं कर सका तथा आप मुझे रामके हाथों सौंप नहीं सके।

चलत न देखन पायउँ तोही। तात न रामहि सौंपेहु मोही॥

यही नहीं, रामके कानन जानेका समाचार सुनकर श्रीभरतलालजीको अपने पिता महाराज दशरथके मरनेका समाचार भूल जाता है तथा वे अनेक विलाप कर अपनी माता कैकेयीको कोसने लगते हैं—

भरतहि बिसरेउ पितु मरन, सुनत राम बन गौनु।

यह है श्रीभरतलालजीका भ्रातृ-प्रेम। धन्य हैं भरतलालजीको, जो भ्रातृ-प्रेमके कारण आजीवन मातासे बोलेतक नहीं। उन्होंने कहा कि 'तुम अपने मुँहपर कलंकका कालिख लगाकर हमारी आँखोंसे ओझल हो जाओ और दूर जाकर बैठो'—

जो हसि सो हसि मुँह मसि लाई।
आँखि ओट उठि बैठहि जाई॥

श्रीभरतलालजी माता कौसल्याके पास बिलखते हुए जाते हैं। माता कौसल्या आदिसे अन्ततक उनको सारी बातें बतलाती हैं एवं विविध प्रकारसे भरतको सान्त्वना देती हैं। इस प्रकार बिलखते-रोते सारी रात बीत गयी। महर्षि वसिष्ठके आज्ञानुसार श्रीभरतजी अपने पिता महाराज दशरथका अन्त्येष्टि-संस्कार शास्त्रविधिके अनुसार करते हैं।

श्रीभरतलालजीके सामने गम्भीर समस्या है। परम प्रिय भाई श्रीरामचन्द्रजी सीता एवं लक्ष्मणके साथ जंगल चले गये हैं। पिता महाराज दशरथ सुरधाम। गुरु वसिष्ठजीका उपदेश तथा अन्य पुरजनोंका आग्रह है कि श्रीभरतलालजी अयोध्याका राज्य सँभालें, किंतु धन्य है श्रीभरतलालके उस भ्रातृ-प्रेमको, जिसके कारण अयोध्याके राज्यका तृणवत् परित्याग कर भाई श्रीरामचन्द्रजीकी शरणमें जानेका निश्चय करते हैं।

एकहि आँक इहइ मन माहीं।
प्रातकाल चलिहउँ प्रभु पाहीं॥

श्रीभरतजी सारे भोग-भूषणका परित्याग कर रामदर्शनकी अभिलाषा मनमें रखकर पैदल ही उस अपने भाई श्रीरामचन्द्रजीको मनाने जा रहे हैं, जिनके कारण श्रीरामचन्द्रजीको चौदह वर्षका वन-राज्य मिला है। भरतलालके उस प्रेमका वर्णन सहस्रमुखवाले शेषनाग भी करनेमें असमर्थ हैं।

भरत प्रेमु तेहि समय जस तस कहि सकइ न सेषु।
कबिहि अगम जिमि ब्रह्म सुखु अह मम मलिन जनेषु॥

श्रीभरतलालकी चिन्ता श्रीरामचन्द्र, सीता एवं लक्ष्मणको बराबर बनी रहती है। सीताजी स्वप्नमें भरतके आगमनकी बात देखती हैं—और परम प्रभु श्रीरामचन्द्रजीसे यह बात बतलाती हैं। इतनेमें ही श्रीरामचन्द्रजीको किरातोंसे भरतके आगमनका समाचार मिलता है। मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रका मन चिन्ताकुल हो उठता है। अनेक प्रकारके विचार उठने लगते हैं। किंतु भरत-जैसे भाईके स्वभावका स्मरण कर वे कुछ निश्चित नहीं कर पाते।

भरत सुभाउ समुझि मन माहीं।
प्रभु चित हित थिति पावत नाहीं॥

श्रीलक्ष्मणजी अपने भाई रामके चित्तकी व्याकुलताको समझकर बोल उठते हैं कि 'राजपद पाकर संसारमें कौन नहीं मदान्ध हो गया। भाई भरत भी अयोध्याका राज्य पाकर जंगलमें हमलोगोंको अकेला समझकर सेना-सहित चढ़ाई करनेके लिये आ रहे हैं; किंतु मैं भी अपने कर्तव्यका पालन कर उनको बतला दूँगा कि भाईका भाईके प्रति क्या कर्तव्य है।' किंतु मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रजीको अपने प्रिय भाई भरतके प्रति तनिक भी संदेह नहीं है। वे लक्ष्मणको समझाते हुए कहते हैं कि 'त्रैलोक्यका राज्य मिल जानेपर भी भरत-जैसे भाईको अभिमान नहीं हो सकता। अयोध्याका राज्य तो उनके लिये तुच्छ है, नगण्य है। क्षीरसागरमें एक बूँद खटाई उसके प्रभावको कभी नष्ट करनेमें समर्थ नहीं होती'—

भरतहि होइ न राजमदु बिधि हरि हर पद पाइ।
कबहुँ कि काँजी सीकरनि छीरसिंधु बिनसाइ॥

भरत-जैसा भाई मिलना संसारमें दुर्लभ है। सूर्यवंश-रूपी सरोवरमें हंसके समान नीर-क्षीरविवेकी भरतने जन्म लेकर गुण और दोषका सच्चा विभाग कर दिया, जिसका यश तीनों लोकोंमें व्याप्त है—

लखन तुम्हार सपथ पितु आना।
सुचि सुबंधु नहिं भरत समाना॥
भरत हंस रबिबंस तड़ागा।
जनमि कीन्ह गुन दोष बिभागा॥
गहि गुन पय तजि अवगुन बारी।
निज जस जगत कीन्हि उजिआरी॥

यह है रामचरितमानसके सच्चे भ्रातृ-प्रेमकी झाँकी। इसके पश्चात् भी सारे मानसमें भ्रातृ-प्रेमके पवित्र दर्शन होते हैं। यदि हम आज भी इस भ्रातृ-प्रेमसे शिक्षा लेकर अपने उस प्राचीन आदर्शको जीवनका लक्ष्य बनायें तो हमारा पारिवारिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय जीवन समुन्नत तथा आदर्शोन्मुख हो सकता है। क्या आपने कभी रामचरितमानसमें वर्णित इस भ्रातृ-प्रेमके ऊपर ध्यान दिया है? इससे कुछ सीखा है? तथा अपने जीवनमें उतारनेका प्रयास किया है? पारिवारिक सम्बन्ध छिन्न-भिन्न होता जा रहा है। छोटे-छोटे स्वार्थोंके लिये हम अपने कर्तव्यको भूल बैठे हैं, जिसका गम्भीर परिणाम समाजको भुगतना होता है। इसीसे आज मानवजीवन अशान्त, दुःखद तथा पतनोन्मुख होता जा रहा है। इससे हमें शिक्षा लेनी चाहिये तथा अपनी भूली हुई प्रतिष्ठाको पुनः प्राप्त करनेका यत्न करना चाहिये।

पढ़ो, समझो और करो

(१)

अनोखा भिखमंगा

आसाम प्रान्तमें एक नगर है—सिलचर। यह बरक नदीके किनारेपर बसा है। आबादी घनी और पूर्वी पाकिस्तानसे आये विस्थापित लोगोंकी है। प्रतिवर्ष वर्षाऋतुमें आसामकी नदियोंमें भयंकर बाढ़ आती है, जिससे जान-मालकी बहुत हानि होती है। बाढ़का प्रभाव अधिकतर डिब्रूगढ़, जोरहाट और गवालपाड़ा आदि नगरोंपर ही पड़ता है; क्योंकि ये ब्रह्मपुत्र नदीके निकट बसे हैं। परंतु सन् १९६६ के जून मासमें बरक नदीमें भी ऐसी विकराल बाढ़ आयी कि उसके प्रकोपसे समूचा सिलचर नगर और आसपासके अन्य कई गाँव तिलमिला उठे। चारों ओर त्राहि-त्राहि मच गयी। सारे नगरमें पानी-ही-पानी भर गया। नगर ऐसा लगता था जैसे समुद्रमें कोई बड़ा जहाज खड़ा हो। हजारों परिवारोंको नावोंद्वारा सुरक्षित स्थानोंपर पहुँचाया जा रहा था। सहायता-कार्य जोरोंपर चल रहा था।

एक दिन मैं बरक नदीके ऊपर बने सड़कके पुलपर खड़ा बाढ़की विकरालताको देख रहा था। नदी उफन-उफन जा रही थी। न जाने कहाँसे इतना पानी आ गया था। उछलती-कूदती पूरे वेगसे इठलाती चली जा रही थी। मैं बिल्कुल बेखबर-सा उसीके दृश्यमें खोया था कि अचानक किसीके हाथका स्पर्श पा चौंक उठा। मुड़कर पीछे देखा, एक पंद्रह-सोलह वर्षका बालक मेरे सामने हाथ पसारे खड़ा था। रंग उसका साँवला था और शरीर बिल्कुल दुबला-पतला। कपड़ोंके नामपर उसने केवल एक मैला-सा कमीज पहन रक्खा था जो कई जगहोंसे चिथड़े-चिथड़े हो चला था। पैर बिल्कुल नंगे थे। उसने मुझसे चाय पीनेके लिये पंद्रह पैसे माँगे। मैं उसकी दयनीय अवस्थाको देख सिहर उठा। पैसे निकालनेके लिये मैंने अपनी पतलूनकी जेबमें हाथ डाला। टटोलकर पंद्रह पैसेके दो सिक्के निकाले और उसकी ओर बढ़ा दिये। किंतु उस समय मेरे आश्चर्यका ठिकाना न रहा, जब कि वह बिना मेरे पैसे लिये ही, वहाँसे भाग खड़ा हुआ। वह पूरे वेगसे नीचेकी ओर दौड़ा जा रहा था। एक बार भी उसने पीछे फिरकर नहीं देखा। [illegible]

तेज कदमोंसे चल पड़ा, जिधर वह दौड़ा गया था। जब मैं पुलके नीचे उतरकर आया तो देखा कि दाँयें किनारेपर एक छोटी-सी भीड़ एकत्रित है और सब लोग 'मत कूदो, मत कूदो, बहाव बहुत तेज है'—चिल्ला रहे हैं। लेकिन भीड़की लाख चेतावनीके बावजूद भी कूदनेवालेने छलाँग लगा ही दी। धम्मकी एक आवाज आयी, जो शीघ्र ही पानीके प्रवाहकी घरघराहटमें विलीन हो गयी। कूदनेवाला यह वही बालक था, जिसे लोग कोई भिखारी बता रहे थे। सारी भीड़की आँखें उसीकी ओर लग गयीं। ऊँची-ऊँची तरंगोंको अपने पतले-पतले हाथ-पैरोंसे चीरता हुआ वह आगे बढ़ रहा था। सब विस्मयमें थे कि यह क्यों कूदा और अब क्यों आगे जा रहा है? जान-बूझकर मौतके मुँहमें जा रहा है। लोगोंने अंदाज लगाया कि उसका दिमाग जरूर खराब होगा, नहीं तो, क्यों नदीमें कूदता। फिर भी सबमें एक उत्सुकता थी, एक कौतूहल था यह जाननेके लिये कि देखें आखिर यह जाता है कहाँ? सैकड़ों हैरान आँखें लगातार उसका पीछा कर रही थीं। एकाएक भीड़में एक भयमिश्रित कौतूहल जाग उठा। नदीके ठीक मध्यमें यात्रियोंसे भरी एक नाव भँवरमें फँसकर हिचकोले खा रही थी। कभी एक ओरका आधा भाग डूब जाता तो कभी दूसरा। उसके यात्री एक प्रकारसे मौत और जिंदगीके बीच झूल रहे थे। भँवर इतना भयंकर और गहरा था कि यात्रियों और मल्लाहोंके भरसक प्रयत्नोंके बावजूद भी नाव उसमेंसे बाहर नहीं निकल पा रही थी। वह बालक तीव्र गतिसे उसी नावकी ओर बढ़ रहा था। उसने पुलके ऊपरसे ही नावको भँवरके चक्करमें फँसते देख लिया था। इस समय वह एक अनोखी गतिसे लहरोंके ऊपर उछलता हुआ अपनी मंजिलकी ओर बढ़ रहा था और कुछ ही समयमें वह उस नावके निकट पहुँच ही गया। उसे एक ओरसे पकड़कर धक्का लगाना शुरू कर दिया। इस समय उसमें एक अपूर्व उत्साह समाया था। वह अपनी पूरी शक्तिसे नावको एक ओर धकेलनेकी कोशिश कर रहा था। मनोयोग और उत्साहसे कठिन-से-कठिन कार्य भी किया जाय तो वह आसान हो जाता है। बालकका प्रयास भी विफल नहीं गया। उसने एक ऐसा [illegible] कि एक अकेले नाव भँवरके बाहर

आ गयी। यात्रियोंकी आँखोंमें जिंदगीकी चमक उभर आयी। मल्लाहोंके हाथोंमें खून दौड़ चला। स्फूर्ति और उत्साहसे पतवार चलाते हुए वे नावको किनारेकी ओर खे ले चले। कुछ देर पश्चात् नाव हमारे पास ही किनारेपर आकर लगी। सैकड़ों आँखें उस बालकके दर्शनको लालायित हो उठीं। सबकी उत्सुक दृष्टियाँ नावमें उसीको खोज रही थीं। लेकिन वह वहाँ हो तो दिखायी भी दे। सब यात्री सकुशल लौट आये थे, परंतु वह भिखमंगा नहीं लौटा था। यात्रियोंसे जब पूछा गया तो मालूम हुआ कि वह तो नावको खदेड़ते ही उस भँवरकी विकराल लहरोंमें समा गया। भँवरसे बाहर आकर उसकी खोज भी की गयी, परंतु कहीं पता न चला। उस वीर बालकके अन्तकी करुण-गाथाको सुनकर भीड़में सन्नाटा छा गया। कई नेत्रोंसे एक साथ अश्रुधारा फूट पड़ी। उस उत्साही और पराक्रमी बालकने, जिसे लोग भिखारी या भिखमंगा कहते थे, आठ यात्रियोंका जीवन बचानेके हेतु अपने जीवनकी बलि दे दी। स्वयं चला गया, किंतु जाते-जाते भी आठ प्राणियोंको जीवन-दान दे गया। धन्य!

—हरीसिंह यादव बी० ए०, साहित्यरत्न

(२)

भट्टजीकी कर्तव्यनिष्ठा

'अजी! वैद्यराजजी! मेरे लड़केको हैजा हो गया है बापू!'

एक दाढ़ीवाले बोहराजी लाचारी भरे चेहरेसे दूर खड़े वैद्यराजजीसे कह रहे हैं।

झन्डु भट्टजीके कानमें यह आवाज पड़ी और दूसरे ही क्षण वे खड़े होकर बोले—

'चलो भाई, आया'—कहकर उठे, कपड़े बदले, सिरपर पगड़ी रक्खी और जूते पहनकर जानेको तैयार हो गये। इतनेमें आवाज आयी—

'वैद्यराजजी! भोजन करके जाइये न।'

'नहीं, वैद्यके कानमें जिस क्षण रोगीकी चिकित्साके लिये आवाज सुनायी दे, उसी क्षण, स्वर्गका राज्य मिलता हो तो उसके लिये भी वह न रुके—ऐसी शास्त्रकी आज्ञा है।'

वैद्यराजजी मुल्लाजीको साथ लेकर चिलचिलाती धूपमें घरसे निकले और जामनगर शहरके बोहरा-मोहल्लेमें जाकर उन्होंने रोगीको देखा और दवा दी। जब रोगीको आराम होने लगा, तब घर जाकर भोजन किया और कहा—

'रोगीको देखने जानेमें वैद्य विलम्ब न करे' धन्वन्तरिजीकी इस आज्ञाके पीछे गम्भीर रहस्य है। आज यदि मैं भोजन करके बोहराजीके लड़केको देखने गया होता तो वह मर चुका होता। बहुत तेज हैजा था। ठीक समयपर दवा पहुँच गयी, इसीसे बच गया।

वढ़वानके ठाकुर दाजीराज बीमार पड़े। रोग असाध्य था। बम्बईसे बड़े-बड़े डाक्टर आये। झन्डु भट्टको भी बुलाया गया। सभी डाक्टरोंने देखा कि ठाकुरकी बीमारी मिटनेवाली नहीं है। अतएव वे बड़ी-बड़ी फीस लेकर चलते बने, परंतु झन्डु भट्ट तो रोगीके पास ही बैठे रहे।

एक डाक्टरने इनसे कहा—'वैद्यराजजी! रोगी बचनेवाला तो है नहीं, फिर आप यहाँ व्यर्थ क्यों बैठे हैं।'

'आपकी बात सच्ची है। मैं जानता हूँ कि ठाकुर बचेंगे नहीं। किंतु मेरे प्रति इनकी बड़ी प्रीति और श्रद्धा है। डाक्टरोंकी भाँति मैं भी चला जाऊँ तो इनके मनमें यह आ जायगा कि मैं अब बचूँगा नहीं और इस प्रकारकी धारणासे जीवको कितना कष्ट होगा?

झन्डु भट्टजी रोगीके हृदयकी सान्त्वनाके लिये रुक गये। तीन महीने बाद ठाकुरका देहावसान हुआ।

इसके बाद जब वैद्यराजजी जामनगर लौटनेके लिये तैयार हुए, तब राजपरिवारने एक बड़ी रकम फीसके तौरपर उन्हें देनी चाही। इसपर वैद्यराजजीने कहा—'मेरा नियम है कि शरणमें आये हुए रोगीसे कुछ भी फीस न ली जाय। पर जहाँ रोगीका देहावसान हो जाय, वहाँ तो मैं किसी भी हालतमें कुछ भी लेना स्वीकार नहीं करता।'

राज-परिवारने तीन-तीन महीने रुके रहनेकी बात कहकर कुछ रकम स्वीकार करनेके लिये प्रार्थना की। परंतु वैद्यराजजीने एक पैसा भी नहीं लिया और कहा कि 'वैद्य सच्चे अर्थमें संन्यासी है। संन्यासीका नियम-भङ्ग कैसे हो?'

जामनगरमें नागनाथ नाकासे बाहर नागमती नदीके उस पार रहनेवाले एक [illegible] रोते-रोते वैद्यराजजीसे

कहा—'मेरी घरवाली बहुत बीमार है, मुझ ढेढ़के घर कौन देखने जाय ? आप पधारेंगे ?'

'यह तो वैद्यका धर्म है, भाई ! चलो, आ रहा हूँ ।'

'कब ?'

'कब क्या, अभी ।'

वैद्यराजजी इस समय नदीपर घूमने गये थे । अपने साथवाले भाईको बदनके सब कपड़े उतारकर दे दिये और केवल धोती पहने नदीमें कूद गये । तुरंत उस पार अन्त्यजके मुहल्लेमें जाकर स्त्रीको देखा और दवा देकर लौटे । 'अखण्ड आनन्द' ।

—देवेन्द्रकुमार कालिदास पण्डित

(३)

बौद्ध महिलाका कर्तव्यपालन

बात कुछ पुरानी है किंतु है सत्य । कश्मीरके लद्दाख प्रान्तकी राजधानी लेह है । चीनके पूर्वी तुर्किस्तान नामक प्रान्तके मुख्य नगर यारकन्दसे भारतमें आनेका पथ कराकोरमकी घाटीके मार्गसे यहींसे होकर श्रीनगर जाता था । यारकन्द प्रान्तके मुसल्मान हज्जके यात्री इसी रास्ते श्रीनगर, रावलपिण्डी, लाहौर—वहाँसे कराची और वहाँसे जल-जहाजद्वारा मक्का जाया करते थे । कश्मीर दरबारका एक ओवरसियर लेहसे श्रीनगर घोड़ेपर जा रहा था । दिन ढलते देखकर और पड़ाव अभी दूर जानकर उसने अपने घोड़ेकी गति बढ़ायी तो पीछेसे यह आवाज सुनायी दी कि 'घोड़ेको इतना तेज चलायेंगे तो मेरा साथ छूट जायगा । मैं आपके सहारे ही अगले पड़ावतक चल रही हूँ ।' उसने मुड़कर देखा तो यह वाणी एक बौद्ध महिलाकी थी, जो अकेली घोड़ेपर आ रही थी । समीप आनेपर ओवरसियरने पूछा—'देवी ! ऐसे समय आपके अकेली यात्रा करनेका क्या कारण है ?' महिलाने उत्तर दिया—'कर्तव्यपालन ।' यह सुनकर उसकी जिज्ञासा और बढ़ी और उसने महिलासे पूछ ही लिया कि 'कौन-सा कर्तव्य ?' महिलाने कहा—'आज प्रातः जब मैं ग्रामके समीप स्रोतसे जल भरने गयी तो वहाँ एक गठरी पड़ी थी । उसको मैंने खोलकर देखा तो उसमें स्वर्णमुद्राएँ थीं । रातको हज्जके यात्रियोंके काफिलेने वहाँ विश्राम किया था । यह गठरी उन्हींमेंसे किसीकी होगी । इसलिये मैं अगले पड़ावपर, जिसकी है, उसको देने जा रही हूँ ।' ओवरसियरने कहा कि—'यह कार्य तो सरकारके द्वारा भी हो सकता था ।' महिलाने उत्तर दिया—'दूसरेका माल, जिसके हाथ लगानेका पाप मुझसे हो गया है, जबतक मैं उसके स्वामीको न दे दूँगी, मुझे भगवान् बुद्धके चरणोंमें शरण नहीं मिलेगी ।'

अगले पड़ावपर जाकर देखा तो एक हाजी अपना सारा धन खो जानेके कारण अपने दुर्भाग्यपर रो रहा था । इस महिलाने उसकी धरोहर उसको सौंप दी और उसके बहुत आग्रह करनेपर भी कुछ नहीं लिया । प्रातःकालसे भूखी-प्यासी, जैसी आयी थी, लौट गयी ।

ये ओवरसियर श्रीएस० वासदेव वैद्य जम्मूनिवासीके चचा थे, जिनके द्वारा 'रेहनुमाये जिंदगी'में यह घटना प्रकाशित हो चुकी है ।

—निरञ्जनदास धीर

(४)

कैंसर-रोगमें तुलसीके प्रयोगसे लाभ

ग्राम बुलाकीपुर, पोस्ट पोखरभिंडा, जिला मुजफ्फरपुर (बिहार) के श्रीनिर्सू राउतके पुत्र श्रीगंगाराम राउत गतवर्षसे कैंसर-रोगसे पीड़ित थे । उन्होंने अच्छे-अच्छे डाक्टरोंसे रोगसमाप्तिके लिये इलाज करवाया; अच्छी-से-अच्छी दवाओंका प्रयोग किया, पर अच्छे नहीं हुए । उनके पेटके अंदर दो गोला-जैसे हो गये थे, जो बाहर निकले नजर आते थे और काफी दर्द रहता था । डाक्टरों तथा वैद्योंकी चिकित्सासे न गोले ही दबे, न दर्द ही कम हुआ । ये अपने जीवनसे निराश हो गये । अन्तमें अस्पतालके डाक्टरोंने इनके परिवारवालोंसे कह दिया कि 'अच्छा हो, कि इन्हें आप घर ले जायँ और दान-पुण्य करें । इनके रोगकी कोई दवा नहीं है । पेटका आपरेशन किया जायगा तो भी ये नहीं बचेंगे ।'

कैंसरके रोगी श्रीगंगाराम यों निराश होकर जब अस्पतालसे घर वापस चले आये, तब एक दिन मैंने उनको 'कल्याण' में प्रकाशित कैंसरकी दवा तुलसीका विधिविधानके साथ प्रयोग करनेके लिये कहा । उन्होंने डाक्टरी दवाएँ छोड़ दीं और भगवान्का नाम लेकर 'कल्याण'में बतायी विधिके अनुसार श्यामा

तुलसीके ३५ पत्ते, दहीके मट्ठेमें मिलाकर दोनों समय लेना शुरू कर दिया। भगवत्कृपासे सप्ताह पूरा होते-होते बाहर निकला कैंसरका एक गोला पेटके अंदर फूट गया। ऊपरसे दबा हुआ नजर आने लगा। दूसरे सप्ताहके अंदर दूसरा गोला भी दबा दिखायी देने लगा, वह भी शायद फूट गया; क्योंकि उन दिनों उनके पीव-जैसा पाखाना होता था। धीरे-धीरे रोगी अच्छा होने लगा। जहाँ भोजन बिल्कुल छूट गया था, वहाँ अब खानेके लिये रोने लगा। अब वे पूर्णरूपसे स्वस्थ हो गये हैं। पेटका दर्द बिल्कुल ही समाप्त हो गया है। जो बिछौनेपर ही लेटे पाखाना करते थे, वे अब भगवत्कृपासे खूब घूमते-फिरते हैं तथा अपना सब काम-काज करते हैं। कोई भी तकलीफ नहीं है। कुछ कमजोरी है, वह भी पौष्टिक पदार्थोंके सेवनसे धीरे-धीरे दूर हो जायगी। मेरा अनुरोध है—आप इस संवादको प्रकाशित कर दें, जिससे इस रोगसे पीड़ित भाई लाभ उठावें।

—श्रीराजेन्द्रप्रसाद सिंह
ग्राम बुलाकीपुर, पो० पोखरभिंडा, जिला मुजफ्फरपुर
(बिहार)

(५)

कर्तव्यनिष्ठ स्वामिभक्ति

पुरानी बात है। ईडरकी एक रियासतके श्रीकल्याणराय बक्षी नामक दीवान थे। इस रियासतके राजवीका देहावसान हो जानेपर कुमारके नाबालिग होनेके कारण राज्य-संचालनके लिये श्रीकल्याणरायको मैनेजर नियुक्त किया गया था।

स्वर्गीय राजवीकी संतानमें यह एक ही कुमार था। कुमारके न होनेपर राजगद्दीके अधिकारी थे—'सर' उपाधिधारी श्रीप्रतापसिंहजी, जो ईडरनरेशके निकट सम्बन्धी थे।

कुमारकी नाबालिग अवस्था और मैनेजरके पदपर किसी अंगरेजके बदले एक भारतीयको देखकर सर प्रतापके मनमें लोभ पैदा हो गया कि ईडरकी राजगद्दी मुझे मिल जाय तो कितना अच्छा हो। उनकी आँखोंके सामने राज्यका वैभव जगमगा उठा।

उसी दिन रातको हाथमें एक थैला लिये सर प्रतापसिंह अकेले मैनेजर कल्याणराय बक्षीके घर पहुँचे। दरबानने बक्षी महोदयको अंदर जाकर सर प्रतापके आगमनकी सूचना दी।

सर प्रतापके स्वागतके लिये बक्षीजी उठे और सम्मानके साथ उन्हें भीतर लाकर ऊँचे आसनपर बैठाया और हुक्म फरमानेके लिये प्रार्थना की।

सर प्रतापने कहा—'वेतनमें हर महीने कितनी बचत रहती है बक्षी? इतनी लम्बी नौकरी करके कितना क्या इकट्ठा किया?'

'कुछ नहीं, सर! नौकरीसे रोटी चलती है। पूँजी कहाँसे इकट्ठी होती।' 'मैं तुमको पूँजीका ढेर बतलाने आया हूँ।'

बक्षी कुछ विस्मित-से हुए; क्योंकि रजवाड़ोंके गंदे हथकंडे और साजिश आदिके रहस्यसे वे अपरिचित नहीं थे। तथापि वे बोले—'आप?'

'हाँ, मैं, बताने नहीं आया, ढेर देने आया हूँ, देखो, ये दो लाख रुपयेके नोट।' इतना कहकर सर प्रतापने नोटोंका बंडल बक्षीके सामने रख दिया।

'किसलिये?' बक्षीने पूछा।

'कुछ नहीं, तुम इस समय मैनेजर हो। कुमारकी थालीमें जरा-सा मीठा 'पायजन' जल्दी मिलवा दो। फिर राजगद्दीका अधिकारी मैं हूँ और फिर तो तुमको निहाल कर दूँगा।'

'सर! ये नोट आप वापस ले लें। ये मेरे नहीं खपेंगे। दुनियाका राज्य मिलता हो तो भी मैं अधर्म या पापके मार्गपर नहीं जा सकूँगा। ऐसा विचार भी कभी मेरे मनमें आ जाय तो मेरे स्वर्गीय माता-पिताके आत्माको दुःख हो और वे मुझपर शापकी वर्षा करने लगें। कुलाङ्गारका कहीं भी कल्याण नहीं होता; अतएव मुझसे यह नहीं होगा। इतना ही नहीं, अब यदि कुमारको कहीं कुछ होगा तो उसके लिये मैं आपको जिम्मेवार समझूँगा।' नोटोंके बंडल उठाकर सर प्रताप तुरंत लौट गये।

पर इसके बाद बक्षी कुमारकी पूरी देख-भाल रखने लगे। उसके खान-पानकी वस्तुओंपर स्वयं ध्यान देने लगे।

इसके बाद बहुत दिन बीतनेपर कुमारका स्वाभाविक मृत्युसे देहावसान हो गया। कोई ... था नहीं

अतः ब्रिटिशसत्ताने सर प्रतापको उत्तराधिकारी मानकर उन्हींको ईडरका राज्य सौंप दिया ।

बक्षीको लगा कि अब ईडर छोड़कर जानेका समय हो गया है; क्योंकि सर प्रताप उन्हें क्यों दीवान-पदपर रक्खेंगे ?

परंतु वहीं उन्हें यह सूचना मिली कि 'ईडरके नये नरेश प्रतापसिंहने ईडरके दीवान-पदपर बक्षीजीको ही नियुक्त रखनेके लिये एजेंसीको लिखा है ।'

बक्षीजीकी कर्तव्यनिष्ठा, स्वामिभक्ति, लोभहीनता और ईमानदारी देखकर सर प्रताप इतने प्रसन्न थे कि उन्होंने गद्दी मिलनेके बाद यह निश्चय कर लिया कि 'इस प्रकारके सत्यनिष्ठ पुरुषसे ही राज्य और प्रजा दोनोंका हित होगा ।'

'अखण्ड आनन्द' —देवेन्द्रकुमार कालिदास पण्डित

(६)

ईमानदारी

घटना करीब दो वर्ष पूर्वकी है । डीडवाना (राजस्थान) के व्यापारी श्रीबालकिशनजी बगड़िया, जो मेरे श्वसुर हैं, एक दिन शामको अपनी दूकानसे कुछ नोटोंकी गड्डियाँ एवं करीब तीन तोले वजनका स्वर्ण-आभूषण एक थैलेमें रखकर घरकी ओर चले । रास्तेमें उन्होंने एक मालिनसे साग-सब्जियाँ खरीदीं । जेबमें पैसे कम होनेसे उन्होंने थैलेमें रक्खी नोटोंकी एक गड्डी निकाली और उसमेंसे एक नोट निकालकर मालिनको दिया । नोटोंका बंडल निकालते समय थैलेमें रक्खा स्वर्ण-आभूषण मालिनके साग-सब्जियोंके टोकरेमें गिर पड़ा, जिसे कोई भी नहीं देख सका । उन्होंने सब्जियाँ लेकर घरकी राह ली । घर पहुँचकर तिजोरीमें नोट रख दिये और आभूषण उनके चित्तसे उतर गया । रातमें सोते समय आभूषणकी याद आयी और उसी समय उठकर उन्होंने झट तिजोरी सँभाली । तिजोरीमें उस दिनके रक्खे नोटोंके बंडल भी सँभाले; लेकिन गहना वहाँ हो तो मिले । फिर सोचा कि हो सकता है दूकानमें रक्खी रोकड़की पेटीमें छूट गया हो । प्रातःकाल होते ही दूकानपर पहुँचकर सर्वप्रथम रोकड़की पेटी सँभाली । जब गहना न मिला तो चिन्ता करने लगे और मन-ही-मन सोचने लगे—'कल साग-सब्जियाँ खरीदते समय तो कहीं न गिर गया हो, यदि इसके बारेमें मालिनसे पूछताछ करूँगा तो वह बिगड़कर शोर तो न मचायेगी ।' किसी तरह साहस बटोरकर निराश मनसे वे मालिनके पास पहुँचे । डरते-डरते मालिनसे पूछा—'कल जब मैं तुमसे साग खरीद रहा था तो यहाँ मेरी एक चीज गिर पड़ी थी ।' मालिन पहले तो कुछ नहीं बोली, फिर हँसकर पूछने लगी—'सेठजी क्या चीज थी ?' उन्होंने कहा—'एक गहना था ।' 'कैसा गहना था ?' मालिनने फिर पूछा । उन्होंने आभूषणका पूरा विवरण दिया । इसके बाद मालिनने अपनी जेबसे वह आभूषण निकालकर तुरंत उन्हें दे दिया । आभूषण पाकर उन्हें बड़ी खुशी हुई और मालिनको पुरस्कारस्वरूप उन्होंने २१) रुपये देने चाहे; किंतु मालिनने यह कहते हुए लेनेसे इनकार कर दिया कि 'यदि आप देना ही चाहते हैं तो इन्हीं रुपयोंके दाने कबूतरोंको डलवा देना ।'

इस युगमें जब कि भ्रष्टाचार और अनीतिका बोलबाला है, इस घटनासे यह सिद्ध हो जाता है कि ईमानदार व्यक्ति अब भी वर्तमान हैं ।

—पूर्णेन्दु मालचन्दका, गंगाभवन, लोसल

(७)

गोरक्षासे टी० बी० रोगका नाश

कुछ समय पहलेकी बात है । सौराष्ट्रके एक गाँवमें एक छोटा-सा अहीरकुटुम्ब रहता था । कुटुम्बमें पुरुष, स्त्री और उनका एक अठारह सालका लड़का था । मेहनत-मजदूरी करके जीविका चलाते थे । लड़केकी सगाई चार कोस दूर एक गाँवमें हुई थी । अगले वर्ष विवाह होनेवाला था । इसी बीच लड़केके पिताका देहावसान हो गया । दुर्भाग्य यहींतक नहीं रहा । लड़केको टी० बी० की बीमारी हो गयी । पहलवान-जैसा शरीर, दिन-प्रति-दिन सूखने लगा । उस समय आज-जैसा इलाजका साधन नहीं था; फिर वह तो छोटा-सा गाँव था । ऐसी स्थिति भी नहीं कि किसी बड़े शहरमें ले जाकर विधवा माँ अपने बेटेका इलाज करवाती । लड़केके जीवनसे निराश हो गयी । लड़कीवालोंने विवाह करनेसे इन्कार कर दिया । बेचारी विधवाका तो संसार ही उजड़-सा गया ।

ईश्वरकी लीला विचित्र है । बरसातके दिन थे । लड़का रातको एक किसानके खेतमें रखवाली करने गया था । सबेरा होनेपर घरकी तरफ लौटते समय उसने रास्तेमें देखा एक गौ खड्डेके कीचड़में बुरी तरह फँसी पड़ी है । गौ बड़ी कमजोर थी और दो दिनकी भूखी-प्यासी थी । बाहर निकलने-

का प्रयत्न करनेमें इतनी थक चुकी थी कि उसके मरनेकी ही तैयारी थी। गौको इस दशामें देखकर लड़केका हृदय दयासे भर गया। उसने अपनी बीमारी तथा कमजोरीकी चिन्ता छोड़कर सोचा—'इस हालतमें मौतके मुँहमें जाती हुई गौमाताको मैं छोड़ जाऊँगा तो मनुष्य कहलाने लायक भी नहीं रहूँगा।' उसने गौको बाहर निकालनेका मन-ही-मन निश्चय किया और प्रतिज्ञा की कि 'गौ जबतक न निकलेगी मैं तबतक अन्न-जल ग्रहण नहीं करूँगा।' वह खेतपर वापस जाकर एक मजबूत रस्सा लाया और आगेसे गौको बाँधकर खींचने लगा, पर यह उसके अकेलेके वशका काम नहीं था। इतनेमें उधरसे एक आदमी जा रहा था, उसको मददके लिये बुलाया। उसने पीछेसे पूँछ पकड़कर गौको उठानेकी कोशिश की। आधा घंटातक पूरा परिश्रम करनेके बाद वे किसी तरह गौको बाहर निकाल सके, परंतु गौ इतनी कमजोर हो गयी थी कि उसमें हिलने-डुलनेतककी शक्ति नहीं रह गयी थी। लड़केने घास लाकर उसे खिलाया, जल पिलाया, फिर गाँवसे गुड़ लाकर दिया। इतनी सेवाके बाद शामतक गौ खड़ी हो सकी। गौके मालिकका पता नहीं लगा; अतः लड़का उस गौको अपने घर ले आया। इसके बाद उसने अन्न-जल ग्रहण किया।

माता-पुत्रने गौकी खूब सेवा की। गौ तन्दुरुस्त हो गयी। समयपर ब्यायी और माता-पुत्रको उसने अमृत-सा दूध पिलाया। यह तो प्रत्यक्ष सेवाका फल मिला।

तदनन्तर एक दिन रात्रिको लड़केने स्वप्नमें देखा—'एक अति तेजस्वी पुरुष लड़केके सिरपर हाथ रखकर यह आशीर्वाद दे रहे हैं कि तुमने गौके जीवनकी रक्षा की थी, इससे तुमपर भगवान् बहुत ही प्रसन्न हुए हैं। भगवान्‌की कृपासे तुम्हारी बीमारी तुरंत मिट जायगी। और भी कोई कष्ट होगा तो सब भगवान्‌की कृपासे दूर हो जायगा।' इतना कहकर वे महापुरुष अन्तर्धान हो गये।

लड़केकी नींद खुल गयी। उसने सब बातें माँको सुनायीं। गौ-सेवाके फलस्वरूप लड़केका टी० बी० रोग नष्ट हो गया। उसे अच्छे वेतनपर शहरमें काम मिल गया। लड़कीवालोंने विवाह करनेसे जो पहले इन्कार कर दिया था, उन्होंने विवाह कर दिया। परिवार सुखी हो गया।

यह आँखों देखी सत्य घटना है।

—श्रीजादवजी खेराजभाई ठकर,

(८)

ईमानदारी और भगवान्‌का मङ्गलविधान

'अपने इस समय बहुत ही विपत्तिमें हैं; सब सामान तो कल कुर्क हो ही जायगा; जेल भी हो सकती है। इस अवस्थामें यदि एक बार भाईजी ''''के रुपये बरत लिये जायँ तो क्या हर्ज है। यह तो आपद्धर्म है। दो-तीन महीने बाद जब रुपये आयेंगे, तब वापस जमा रख दिये जायँगे या उनकी पत्नीको दे ही देंगे।' रोती हुई धर्मपत्नीने अपने पतिसे कहा।

बात यह थी कि इनके हाथमें पैसे रहे नहीं। व्यापारमें घाटा हो गया। ईमानदार होनेपर भी भुगतान कर नहीं सके। एक फर्मने नालिस करके दो लाखकी डिक्री ले ली, उसकी वसूलीके लिये कुर्की तथा वारंटका आदेश निकल चुका। इनके यहाँ एक मित्रके ढाई लाख रुपयेके नोट रक्खे थे। उनकी १० ही दिन हुए मृत्यु हो गयी। रुपये उनकी पत्नीको देने थे। इनके अपने रुपये दो-तीन महीने बाद विदेशसे आनेवाले थे। इसीसे पत्नीने इनसे उपर्युक्त बात कही।

इन्होंने कहा—'ऐसा नहीं होगा। अपने रुपये न आये तो फिर हम कहाँसे देंगे? यह मित्रकी धरोहर है, इसे छूनेका अपना कोई हक भी नहीं है। कल सोमवारको कुर्कीमें यदि ये नोट भी चले गये तो हम मुँह दिखाने लायक तो रहेंगे ही नहीं; नरकोंमें जायँगे। मैं तो इनको आज ही उनकी पत्नीको देकर आऊँगा। अवश्य ही उसको इनका पता नहीं है, पर हम तथा सर्वज्ञ ईश्वर तो सब जानते ही हैं।'

साध्वी पत्नी कुछ बोल ही नहीं सकी। ये उसी दिन रुपये मित्रकी पत्नीको दे आये। दूसरे दिन कुर्की आनेवाली थी। भगवान्‌का मङ्गलविधान। पहलेसे ही रक्षाकी व्यवस्था हो चुकी थी। जो चार लाख रुपये तीन महीने बाद आनेवाले थे, आफिसमें जाते ही उनकी टी० टी० मिल गयी। जहाँ कुर्कीकी आशंका थी, वहाँ सहज ही सब रुपयोंका भुगतान हो गया। डेढ़ लाख जो असल थे, वे उनको दे दिये। शेषसे सारा भुगतान हो गया।

—अमरनाथ

श्रीहरिः

कल्याण

[भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और सदाचार-सम्बन्धी सचित्र मासिक-पत्र]

वर्ष ४२

[साधारण अङ्क संख्या २ से १२ तककी विषय-सूची; विशेषाङ्ककी विषय-सूची उसीके आरम्भमें देखनी चाहिये; वह इसमें सम्मिलित नहीं है ।]

सं० २०२४-२०२५

सन् १९६८ ई०

की

निबन्ध, कविता, कहानी

तथा

चित्र-सूची

[सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार] ※ [प्रकाशक—मोतीलाल जालान]
[चिम्मनलाल गोस्वामी एम्०-ए०]

कल्याण-कार्यालय, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

वार्षिक मूल्य रु० ९.०० (नौ रुपये) } साधारण प्रति भारतमें .५० (पचास पैसे)
विदेशोंके लिये रु० १३.३५ (१५ शिलिंग) } विदेशमें .८० (अस्सी पैसे) (१० पेंस)

निबन्ध-सूची

पद्य-सूची

संकलित पद्य-सूची

कहानी-सूची

संकलित गद्य-सूची

चित्र-सूची

[रंगीन]

[रेखाचित्र]

सनातनधर्मपर अनुचित आक्षेप

गत दिनाङ्क ६ दिसम्बरको लोकसभा, नयी दिल्लीमें अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्रीनिरंजनदेवतीर्थजीके अक्टूबर १९६७ के 'कल्याण' में प्रकाशित लेखके सम्बन्धमें चर्चा हुई है। इसके सम्बन्धमें यह निवेदन है कि 'कल्याण' कट्टर सनातनधर्मी तथा शास्त्रविश्वासी पत्र होनेपर भी उसकी नीति सदासे ही उदार है। वह किसी भी धर्म-सम्प्रदायका कभी अपमान नहीं करता और न किसीको नीच मानता है। बल्कि 'कल्याण' में ईसाई, इस्लाम, पारसीधर्मसम्बन्धी लेख छपते रहते हैं और इसके सम्मान्य लेखकोंमें तथा पाठकोंमें भी ईसाई, मुसलमान, पारसी—सभी धर्मोंके विद्वान् महानुभाव हैं। हिंदूधर्मके 'समस्त विश्व चराचरमें व्याप्त एक भगवान् या एक आत्माके सर्वहितकारी' सिद्धान्तके अनुसार वह सबका हित-सम्पादन करता हुआ सभीको पारमार्थिक पथका प्रदर्शन कराता है। जगद्गुरु श्रीशंकराचार्यजीके उक्त लेखमें भी ऐसी कोई बात नहीं मालूम होती, जिसमें किसीको नीचा माना गया हो। उक्त लेखको भलीभाँति पढ़कर समझना चाहिये। हमारा तो यह अनुमान है कि लोकसभामें चर्चा चलानेवाले महानुभावोंने एवं सम्मान्य श्रीचव्हाण महोदयने भी उस लेखको भलीभाँति पढ़ने तथा समझनेका कष्ट नहीं उठाया है। लेखके भावको ठीक समझनेपर कोई ऐसा अर्थ नहीं निकाल सकता। दुर्भाग्य तथा दुःखकी बात है कि बुद्धिमान्, विद्वान् तथा दायित्वज्ञान-सम्पन्न, मनीषी तथा इतने दायित्वपूर्ण पदपर प्रतिष्ठित होते हुए भी सम्मान्य श्रीचव्हाण साहबने लेखके भावोंको जिन शब्दोंमें व्यक्त किया है और श्रीशंकराचार्यजीपर जो उद्गार प्रकट किये हैं, (यदि समाचार-पत्रोंमें छपे समाचार सत्य हैं तो) वे सर्वथा अशोभनीय हैं और उनके योग्य कदापि नहीं है। एक धर्म-निरपेक्ष सरकारके इतने उच्चपदस्थ महानुभावके लिये इस प्रकार हिंदूसनातनधर्म तथा उनके आचार्यके प्रति अनुचित आक्षेप करनेका न अधिकार है, न किसी प्रकार औचित्य ही। इस स्थितिमें हम श्रीचव्हाण महोदयसे सादर विनम्र निवेदन करते हैं कि वे कृपापूर्वक एक बार शान्त हृदयसे उक्त लेखको पढ़ें और गहराईसे समझें। उसमें शास्त्र-सम्मत मत प्रकट करनेके अतिरिक्त किसी धर्म-सम्प्रदाय-जाति तथा उसके अनुयायियोंके प्रति कोई भी आक्षेपजनक बात नहीं है। यह बात ठीक समझमें आ जाय तो श्रीचव्हाण महोदयको अपने उद्गारोंके लिये सत्यके नाते अवश्य पश्चात्ताप होना चाहिये।

जगद्गुरु शंकराचार्य श्रीशारदापीठाधीश्वर, द्वारकाने राष्ट्रपति प्रभृति महानुभावोंके नाम यह तार भेजा है। सो उन्होंने उचित ही किया है। यदि हिंदूसनातनधर्मी इस चीजको अनुचित समझते हों तो दृढ़ताके साथ पर विनम्र भाषामें इसके प्रति अपना विरोध प्रदर्शित करनेके लिये स्थान-स्थानसे श्रीराष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, प्रधान मन्त्री, उप-प्रधान मन्त्री, गृह-मन्त्री और अध्यक्ष लोकसभा आदिके नाम नयी दिल्ली तार-पत्र भेजने चाहिये और सबकी बुद्धि शुद्ध करनेके लिये भगवान्से प्रार्थना करनी चाहिये।

श्रीजगद्गुरुजीका तार यह है—

Union home minister's Statement in parliament against Puri Shankaracharya is highly objectionable and denounces intentionally the dignity of Hindu religious heads and interferes with Hinduism and their religious practices when so-called secular Government dare not utter a word about activities of other miniority communities. We therefore vehemently protest against this reported Statement on behalf of forty crore Hindus and demand its withdrawal.

Jagadguru Shankaracharya, Sharadapeeth, Dwarka.

'लोकसभामें पुरीके शंकराचार्यके विरुद्ध केन्द्रीय गृहमन्त्रीका वक्तव्य अत्यन्त आपत्तिजनक एवं हिंदुओंके धर्माचार्योंकी मर्यादाको जान-बूझकर ठुकरानेवाला तथा हिंदूधर्म और हिंदुओंकी धार्मिक आचार-पद्धतिपर हस्तक्षेप करनेवाला है, जब कि तथाकथित धर्मनिरपेक्ष शासनको अन्य अल्पसंख्यक जातियोंकी हलचलोंके प्रति एक शब्द भी बोलनेका साहस नहीं है। अतएव चालीस करोड़ हिंदुओंकी ओरसे हम समाचार-पत्रोंमें प्रकाशित इस वक्तव्यका घोर विरोध करते हैं तथा इसके वापस लिये जानेकी माँग करते हैं।

—जगद्गुरु शंकराचार्य, शारदापीठ, द्वारका।

सम्मान्य प्रेमी ग्राहकों, पाठकों तथा लेखक महानुभावोंसे प्रार्थना

१–यह 'कल्याण'के ४२ वें वर्षका अन्तिम १२ वाँ अङ्क है। आगामी विशेषाङ्क 'परलोक और पुनर्जन्माङ्क' से ४३ वाँ वर्ष आरम्भ होगा। भगवान्की कृपा, उनकी शक्ति तथा प्रेरणासे ही 'कल्याण' अपने क्षेत्रका विस्तार करता हुआ अग्रसर हो रहा है। यह विशेषाङ्क एक विशेष आवश्यक विषयपर प्रकाशित हो रहा है। इसमें अनेक अनुभवी महापुरुषों तथा अनेक सम्प्रदायों–मतोंके विद्वानोंके तथ्यपूर्ण लेख रहेंगे। बहुत-से चरित्र भी रहेंगे तथा विषयके अनुरूप सुन्दर रंगीन एवं सादे चित्र भी होंगे। अतः यह अङ्क धुरन्धर विद्वानोंके साथ ही सर्वसाधारणके लिये भी बहुत उपयोगी होगा।

२–खर्च उत्तरोत्तर बढ़ रहा है। कागज, डाकमहसूल, वेतन–सभीमें वृद्धि हुई है। खर्च और भी बढ़नेकी सम्भावना है, तथापि मूल्य अभी ९.०० (नौ) रुपये ही रक्खा गया है। यह मूल्य एक 'विशेषाङ्क'के लिये भी पूरा नहीं है, पर यदि अनिवार्य बाधा नहीं आयी तो ११ महीने तक साधारण मासिक अङ्क भी दिये ही जायँगे। पहलेसे प्रयत्न करनेपर भी डाक-विभागसे पूरे मनीआर्डर-फार्म नहीं मिले। जितने मिले, उतने ही पिछले ११ वें तथा इस अङ्कमें भेजे गये हैं। ग्राहक महोदय स्वयं ही मनीआर्डर-फार्म मँगाकर रुपये भेजनेकी कृपा करें। भेजते समय मनीआर्डर-कूपनमें अपना नाम, पूरा पता, ग्राम या मुहल्ला, डाकघर, जिला, प्रदेश–साफ-साफ अक्षरोंमें लिखनेकी कृपा करें। ग्राहक-नम्बर अवश्य लिखें। नये ग्राहक हों तो 'नया ग्राहक' लिखना कृपया न भूलें।

३–ग्राहक न रहना हो तो कृपया कार्ड लिख दें। रुपये भेजनेपर भी कदाचित् पहले वी० पी० द्वारा विशेषाङ्क पहुँच जाय तो वी० पी० लौटावें नहीं, नया ग्राहक कृपया बना दें। 'कल्याण'के जितने ग्राहक अधिक होंगे, उतना ही भगवद्भावोंका प्रचार अधिक होगा, जो विश्वकल्याणके लिये अत्यन्त आवश्यक है। अतएव सभी कल्याणप्रेमियोंसे साग्रह निवेदन है कि वे इस बार विशेष चेष्टा करके 'कल्याण'के अधिक-से-अधिक नये ग्राहक बनाकर उनके रुपये मनीआर्डरद्वारा तुरंत भिजवानेकी कृपा करें।

४–किसी अनिवार्य कारणवश 'कल्याण'का प्रकाशन बंद हो जाय तो केवल विशेषाङ्क या उसके बादके जितने अङ्क पहुँच जायँ, उन्हींमें पूरे वर्षका मूल्य समाप्त हुआ समझ लें।

५–यह बारहवाँ अङ्क कुछ देरसे जा रहा है और 'परलोक तथा पुनर्जन्माङ्क'के भी विलम्बसे जानेकी सम्भावना है। विवशताके कारण ही ऐसा होता है। 'कल्याण'के प्रेमीजन इसके लिये कृपया क्षमा करें।

६–इस विशेषाङ्कके लिये लेख तो इतने आये हैं और अबतक आ रहे हैं कि उन सबका पठन तथा सम्पादन भी इतने कम समयमें सम्भव नहीं है। फिर विशेषाङ्कके पृष्ठ भी सीमित ही हैं। (यद्यपि सीमित होनेपर इस मँहगीमें बहुत अधिक हैं)। अतएव बहुत-से लेख रह जायँगे। एक-से ही विषयके हैं, इसलिये भविष्यमें भी सब लेखोंका छपना सम्भव नहीं है। इस विवशताके लिये सम्मान्य लेखक महोदय कृपापूर्वक क्षमा करें। यह उनसे विनीत प्रार्थना है।

व्यवस्थापक—'कल्याण' पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)